

अपभ्रंश भारती

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 2007-2008

19



अपभ्रंश साहित्य अकादमी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
राजस्थान

अपभ्रंश भारती

वार्षिक

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 2007-2008

सम्पादक मण्डल

श्री नवीनकुमार बज
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
श्री अशोक जैन
श्री नगेन्द्र जैन
डॉ. जिनेश्वरदास जैन
डॉ. प्रेमचन्द राँवका
डॉ. अनिल जैन

प्रबन्ध सम्पादक

श्री प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

सम्पादक

डॉ. कमलचन्द सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य

30.00 रु. सामान्यतः

60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

मुद्रक

जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.

एम. आई. रोड

जयपुर-302001

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक का नाम	पृ.सं.
	प्रकाशकीय		(v)
	सम्पादकीय		(vii)
1.	अपभ्रंश साहित्य : एक दृष्टि	डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी	1
2.	'पउमचरिउ' में काव्य सौन्दर्य- सृष्टि : कवि-दृष्टि एवं प्रयोग	डॉ. मधुबाला नयाल	7
3.	कवि स्वयम्भूकृत पउमचरिउ में स्तुति काव्य	डॉ. उमा भट्ट	23
4.	सोहइ हलहरजत्थहिं	महाकवि पुष्पदन्त	32
5.	अपभ्रंश साहित्य के कवि : स्वयंभू और पुष्पदन्त	श्री अनिलकुमार सिंह 'सेंगर'	33
6.	कुसुमियफलियइं णंदणवणाइं	महाकवि पुष्पदन्त	38
7.	साधारण सिद्धसेनसूरि-रचित विलासवई-कहा	श्री वेदप्रकाश गर्ग	39
8.	जहिं पिक्कसालिछेत्ते घणेण	महाकवि पुष्पदन्त	42
9.	सिद्धों और नार्थों के साहित्य के सामाजिक सन्दर्भ	श्री राममूर्ति त्रिपाठी	43
10.	महाकवि भासकृत 'अविमारकम्' में प्रयुक्त प्राकृत के अव्यय	डॉ. (श्रीमती) कौशल्या चौहान	51
11.	'पउमचरिउ' में संज्ञा शब्दों के प्रयुक्त पर्यायवाची शब्द	श्रीमती सीमा ढींगरा	63
12.	पं. जोगदेवकृत श्री मुणिसुव्रतानुप्रेक्षा	पण्डित जोगदेव संपा-अनु. - श्रीमती शकुन्तला जैन	70
13.	सुप्पय दोहा	आचार्य सुप्रभ संपा-अनु. - सुश्री प्रीति जैन	103

अपभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार, महावीर निर्वाण दिवस पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसन्धान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 सेण्टीमीटर का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता -

सम्पादक

अपभ्रंश भारती

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड

जयपुर - 302 004

प्रकाशकीय

प्राचीन भारतीय भाषाओं एवं साहित्य में रुचि रखनेवाले अध्येताओं के लिए 'अपभ्रंश भारती' पत्रिका का उन्नीसवाँ अंक प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता है।

'अपभ्रंश भाषा' अपने मूलरूप में जनभाषा थी, कालान्तर में उसके साहित्यिक स्वरूप का विकास हुआ। इस प्रकार यह जनभाषा और साहित्यिक भाषा इन दोनों रूपों में सामने आई। अपभ्रंश भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति के सक्षम माध्यम बनने का गौरव विक्रम की छठी शताब्दी में प्राप्त हुआ। साहित्य-रूपों की विविधता और वर्णित विषय-वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य बड़ा ही समृद्ध और मनोहारी है।

अपभ्रंश भाषा के प्रचार-प्रसार एवं अध्ययन-अध्यापन के लिए दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा 'जैनविद्या संस्थान' के अन्तर्गत सन् 1988 में जयपुर में 'अपभ्रंश साहित्य अकादमी' की स्थापना की गई।

अकादमी द्वारा अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के लिए पत्राचार के माध्यम से 'अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' तथा 'अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम' संचालित हैं जो राजस्थान विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त हैं। इसके सुचारु अध्ययन व अध्यापन के लिए हिन्दी व अंग्रेजी भाषा में निम्नांकित पुस्तकें प्रकाशित हैं - 'अपभ्रंश रचना सौरभ', 'अपभ्रंश काव्य सौरभ', 'अपभ्रंश अभ्यास सौरभ', 'अपभ्रंश : एक परिचय', 'प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ भाग-1' 'प्रौढ़ प्राकृत-अपभ्रंश रचना सौरभ, भाग-2', 'अपभ्रंश ग्रामर एण्ड कम्पोजिशन (अंग्रेजी)', 'अपभ्रंश एक्सरसाइज बुक (अंग्रेजी)', 'अपभ्रंश पाण्डुलिपि चयनिका' आदि।

अपभ्रंश भाषा के अध्ययन व लेखन के प्रोत्साहन हेतु अकादमी द्वारा 'स्वयंभू पुरस्कार' प्रदान किया जाता है। इसके प्रचार-प्रसार हेतु यह शोध-पत्रिका 'अपभ्रंश भारती' प्रकाशित की जाती है।

जिन विद्वान लेखकों के लेखों द्वारा पत्रिका के इस अंक का कलेवर निर्मित हुआ उनके प्रति आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादार्ह हैं। मुद्रण के लिए जयपुर प्रिण्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादार्ह हैं।

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

स्वयंभू पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान) द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी या अँग्रेजी में रचित रचनाओं पर 'स्वयंभू पुरस्कार' दिया जाता है। इस पुरस्कार में 31,001/- (इकतीस हजार एक रुपये) एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जाता है।

पुरस्कार हेतु नियमावली तथा आवेदन-पत्र प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर - 4, से पत्र-व्यवहार करें।

सम्पादकीय

भाषा और साहित्य दोनों की समृद्धि के साथ इतिहास की एक बड़ी समय-सीमा को विभिन्न रूपों में प्रभावित करनेवाला अपभ्रंश साहित्य जीवन का साहित्य है, इसमें कोई किन्तु-परन्तु नहीं है।

गुलेरीजी से लेकर रामसिंह तोमर या फिर शम्भूनाथ पाण्डेय तक ने अपभ्रंश की जिन साहित्यिक विशेषताओं को देखा है, वह कम नहीं है।

हम देखते हैं कि स्वयंभू व पुष्पदंत अपभ्रंश के प्रमुख कवि हैं। उन्होंने अपभ्रंश को साहित्यिक गरिमा प्रदान की है। प्रसिद्ध आलोचक नामवरसिंह के शब्दों में - “स्वयंभू व पुष्पदंत दोनों ही कवि अपभ्रंश-साहित्य के सिरमौर हैं। यदि स्वयंभू में भावों का सहज सौन्दर्य है तो पुष्पदंत में बंकिम भंगिमा है। स्वयंभू की भाषा में प्रच्छन्न प्रवाह है तो पुष्पदंत की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत झाँकी। एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकरण का उदाहरण है।”

डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी के शब्दों में कहा जा सकता है - “दरअसल साहित्य की दूसरी परंपरा का सूत्र या बीज अगर कहीं देखना हो तो संस्कृत से हटकर अपभ्रंश भाषा के इन कवियों की रचनाओं में देखा जाना चाहिये जिन्होंने साहित्य को सचमुच कूप से बाहर लाने की कोशिश की तथा व्यवहार के धरातल पर मौलिक उद्भावना की शक्ति का बीजारोपण सामान्यजन में किया।

‘पउमचरिउ’ ‘रस-सृष्टि’ और चरित्र-संचरण में ‘विरुद्धों का सामञ्जस्य’ लिये है। प्रवृत्ति-निवृत्ति, शृंगार-वैराग्य, शृंगार-युद्ध, काव्य-वस्तुअभिव्यंजना, संगीत एवं भाषित ध्वनियों का चमत्कार ‘कव्वुप्पल’ (काव्य-उत्पल) में क्या कुछ नहीं है जिसे कवि-लेखनी ने न सँवारा हो। फिर भी, काव्य में सरल मानस की ही अभिव्यक्ति हुई है। प्रसंग प्रेम का हो या युद्ध का, अभिव्यक्तिगत सहजता सर्वत्र विद्यमान है। यह एकदम नवीन प्राण-स्पन्दी काव्य है।

काव्यात्मकता की दृष्टि से स्तुतिपरक प्रसंग स्वयंभू की काव्यकला का श्रेष्ठ उदाहरण कहे जा सकते हैं। स्वयंभू की स्तुतियों में लयात्मकता का निर्वाह है। सभी स्तुतियाँ गेय हैं।

इनकी स्तुतियों में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, यमक, श्लेष का अधिक प्रयोग मिलता है। स्तुतियों में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है जो अपभ्रंश काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। समास-बहुल शैली का प्रयोग भी कहीं-कहीं स्तुतियों में किया गया है। जहाँ यमक व श्लेष का साथ-साथ प्रयोग है वहाँ शैली क्लिष्ट है; अन्यथा सरल-सहज शैली का प्रयोग स्तुतियों में किया गया है।

विलासवई-कहा अपभ्रंश की प्रेमकाव्य-परम्परा के अनुरूप लिखी गई एक रचना है जो विषय-वस्तु, शैली एवं प्रबंध रचना की दृष्टि से प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा की एक कड़ी विशेष है।

काव्य में शब्द-विन्यास सुन्दर रूप में है और भाषा प्रांजल एवं सुष्ठ है। उसमें सूक्तियों, कहावतों एवं मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिनसे भाषा और भावों में सजीवता आ गई है। यह रचना काव्य-कला की दृष्टि से अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक काव्यों में उत्कृष्ट है और कथानक रूढ़ियों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह अत्यन्त सम्पन्न तथा प्रसाद गुण से युक्त काव्य है। यद्यपि प्रायः सभी रसों की संयोजना इस काव्य में हुई है किन्तु मुख्यरूप से विप्रलंभ शृंगार का प्राधान्य है। काव्य-कथा की विशेषताओं को देखते हुए यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि वास्तव में यह कवि अपनी इस सुन्दर कृति के द्वारा अमर हो गया।

किसी भी भाषा की अभिवृद्धि में शब्दों के पर्यायवाची का बहुत महत्त्व होता है। वस्तुतः वे शब्द भाषा के विपुल वैभव को प्रकट करते हैं। एक ही अर्थ के वाचक अनेक शब्द, जिनका समान भाव हो, पर्यायवाची शब्द कहलाते हैं। महाकवि स्वयंभू द्वारा रचित महाकाव्य 'पउमचरिउ' रामकथात्मक काव्य है। इसमें संज्ञा शब्दों के प्रयुक्त पर्यायवाची शब्दों से कवि की भाषा-संपदा का पता चलता है।

चर्यापदों के अन्तर्गत समकालीन समाज की स्थिति, उसके सदस्यों की मनोवृत्ति, रहन-सहन, प्रथाओं तथा मनोरंजन के साधनों के बारे में भी संकेत मिलते हैं।

संस्कृत के महाकवि भास की रचना 'अविमारकम्' में प्राकृत भाषा के अव्ययों का भरपूर प्रयोग किया गया है।

अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा अपभ्रंश भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए शोध-पत्रिका 'अपभ्रंश भारती' प्रकाशित की जाती है; अपभ्रंश भाषा के अध्ययन-अध्यापन को सुगम बनाने के लिए अपभ्रंश व्याकरण की पुस्तकें प्रकाशित हैं; अपभ्रंश से सम्बन्धित शोध-खोज व लेखन के प्रोत्साहन के लिए 'स्वयंभू पुरस्कार' प्रदान किया जाता है, इनके साथ ही अपभ्रंश भाषा की पाण्डुलिपियों का सम्पादन-अनुवाद करवाना और उनका प्रकाशन कराना भी अकादमी की एक प्रमुख योजना है। पिछले अंकों में लघु-रचनाओं व काव्यांशों का प्रकाशन किया जा रहा है, उसी क्रम में इस अंक में 'मुणिसुव्रतानुप्रेक्षा' तथा 'सुप्पय दोहा' इन दो लघु रचनाओं का हिन्दी अर्थसहित प्रकाशन किया जा रहा है। 'मुणिसुव्रतानुप्रेक्षा' के रचनाकार हैं - पण्डित जोगदेव, इसका सम्पादन तथा हिन्दी-अर्थ किया है श्रीमती शकुन्तला जैन ने। सुश्री प्रीति जैन द्वारा सम्पादित व हिन्दी-अर्थ युक्त 'सुप्पय दोहा' के रचनाकार हैं आचार्य सुप्रभ । हम इनके आभारी हैं।

जिन विद्वान् लेखकों ने अपने लेख भेजकर इस अंक के प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया उनके प्रति आभारी हैं।

संस्थान समिति, सम्पादक मण्डल एवं सहयोगी सम्पादक व कार्यकर्ताओं के भी आभारी हैं। मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह है।

- डॉ. कमलचन्द सोगानी

अपभ्रंश साहित्य : एक दृष्टि

- डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी



हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों का मानना है कि आदिकाल में कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें अपभ्रंश-काव्य नाम दिया गया। अपभ्रंश की इन रचनाओं में सब प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। कोई विशेष प्रवृत्ति व्यापक नहीं है।¹ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' नामक अपने ग्रंथ में एक जगह लिखा है - "बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था। गद्य और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्द मूल रूप में रखे जाते थे, पर पद्य लिखते समय उन्हें तद्भव बनाने का प्रयत्न किया जाता था।"²

सच तो यह है कि अपभ्रंश का सही स्वरूप लोकभाषा का था या देशभाषा का, इसे इतिहासकारों के जिम्मे अगर छोड़ दिया जाय तो सामान्य पाठक का कुछ अहित नहीं होने वाला। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसा अधिकारी अध्येता भी यह बात अधिकार के साथ नहीं कहता कि देशी भाषा और अपभ्रंश में क्या सम्बन्ध था या अपभ्रंश विशुद्ध लोकभाषा के रूप में हमारे सामने है। हिन्दी जाति का साहित्य लिखते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने 'देशीभाषा और अपभ्रंश' शीर्षक से इस विषय पर विस्तार से लिखा है। यद्यपि इसको भी सर्वथा निर्विवाद नहीं माना जा सकता। चन्द्रधर शर्मा

गुलेरी ने तो जोर देकर कहा था कि अगर साहित्य के रूप में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा को कोई हिन्दी नहीं मानता तो ब्रजभाषा को भी हिन्दी नहीं मानना चाहिए तथा तुलसीदास की उक्तियों को भी हिन्दी नहीं कहना चाहिए। 'हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास' नामक पुस्तक में हजारीप्रसादजी का अपभ्रंश विषयक विवेचन भी देखा जा सकता है। रचनात्मक दृष्टि से (साहित्यिक और ऐतिहासिक) उत्तरकालिक अपभ्रंश को हिन्दी के साहित्य से जोड़कर देखा जा सकता है। हजारीप्रसादजी का मानना है - "जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है, निस्सन्देह हिन्दी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।" लेकिन एक प्रश्न यहाँ पर पुनः उठ खड़ा होता है कि अपभ्रंश साहित्य अपने पूर्वकालिक रूप में किस तरह से प्रचलित था क्योंकि 'हिन्दी साहित्य के अतीत' में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मानना है -

“इतिहास की दृष्टि से अपभ्रंश वाङ्मय का पृथक् ही विवेचन करने की आवश्यकता है। प्राकृत साहित्य की भाँति अपभ्रंश साहित्य भी कई दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य से पृथक् है। उसका विचार संस्कृत-प्राकृत के साहित्यों की भाँति पूर्व पीठिका के रूप में ही होना उचित है।...वह स्वयं संस्कृत-साहित्य से भले प्रभावित हो, पर उसने परवर्ती हिन्दी साहित्य को प्रभावित नहीं किया। जो कहते हैं कि तुलसीदास ने स्वयंभू का अनुधावन किया है वे स्वयं भ्रम में हैं और दूसरों को भ्रम में डालना चाहते हैं।”³

आचार्य मिश्र की इन पंक्तियों में हजारीप्रसादजी एवं राहुलजी से स्पष्ट असहमति दिखाई दे रही है। अपेक्षाकृत नये आचार्यों (यथा शिवप्रसादसिंहजी, नामवरसिंहजी) ने भी अपनी महत्वाकांक्षी कृतियों में इसे सामने रखकर किसी एक निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाया। इतिहास की अपनी बाध्यताएँ होती हैं। सर्जक जब उसमें से कुछ-कुछ निकालना चाहता है तब उसे कुछ का कुछ बनाना होता है। उसे भविष्य की चिन्ता होती है पर इस कुछ का कुछ करने से आसन्न खतरे भी भविष्य को ही उठाने पड़ते हैं। डॉ. गोपाल राय जब यह कहते हैं कि -

“आज अपभ्रंश का जो भी साहित्य मुद्रित रूप में उपलब्ध है वह देवनागरी लिपि में है। आधुनिक देवनागरी लिपि का स्वरूप भी दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित हुआ और अपभ्रंश साहित्य का काफी बड़ा हिस्सा उसके पूर्व का है। अतः देवनागरी लिपि में उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य अपभ्रंश की ध्वनियों का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करता है, यह पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता।”⁴ तो फिर और क्या कहा जाय। गोपालराय ने अपभ्रंश के नामकरण का एक नया आधार तलाशने की कोशिश भी की है। इन शब्दों में वे यही कहने की कोशिश करते हैं -

“हिन्दुस्तान की भाषा के लिए ‘जबाने हिंद’ नाम तो अरबी में दसवीं शताब्दी के पूर्व ही प्रचलित था पर उससे संभवतः हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं का बोध होता था। उत्तर भारत की भाषाओं के लिए ‘हिंदवी’ नाम का प्रयोग मुसलमानों द्वारा ही तेरहवीं शताब्दी में मिलने लगता है। औफी और अमीर खुसरो ने ‘हिन्दवी’, ‘हिन्दी’ नामों का प्रयोग उत्तर भारत की भाषाओं के लिए किया है। उस समय उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का ही प्रचलन था। अतः ‘हिन्दवी’ अपभ्रंश का भी द्योतक हो जाती है। यदि यह माना जाए कि मुस्लिम लेखकों ने उत्तर भारत में प्रचलित बोलियों के लिए ‘हिन्दवी’ और ‘हिन्दी’ शब्दों का प्रयोग किया है तो हिन्दी क्षेत्र की बोलियों का सम्बन्ध अनायास तेरहवीं शताब्दी और उसके पूर्व की भाषित बोलियों से जुड़ जाता है।”⁵

यह भी एक तरह की सम्भावना ही है। लेकिन एक बात तो तय है कि काव्य और शास्त्र दोनों दृष्टियों से सातवीं-आठवीं में अपभ्रंश का व्यवहार हो रहा है। दण्डी का यह कथन इस ओर संकेत करता है -

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंशतयोदिताः।

शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंश इति स्मृतम्॥

रही बात अपभ्रंश के लोक भाषा, देश भाषा, सामन्त भाषा, वीर भाषा या ग्राम्य भाषा की; तो भाषा जितने प्रकार की हो, अपभ्रंश को साहित्यिक दृष्टि से देखने में किसी भाषाविद् या साहित्यविद् को कोई आपत्ति नहीं है। ‘हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास’ लिखते हुए (पृ. 116 पर) सुमन राजे का यह कहना समीचीन लगता है -

“भाषाओं को पूर्वापर परम्परा में देखने की आदत और प्रत्येक भाषा के पृथक्-पृथक् साहित्येतिहासों ने चीजों को सही परिप्रेक्ष्य में देखने नहीं दिया। हम कालानुक्रम में प्रभाव की बात तो सोचते हैं परन्तु समकालीन समानान्तर अन्तःसम्बन्धों को नजरअन्दाज कर देते हैं। एक छोटा-सा उदाहरण कालिदास से लिया जा सकता है। वे संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि और नाटककार हैं, उनके नाटकों में प्राकृतों का प्रयोग तो है ही ‘विक्रमोर्वशीय’ में अपभ्रंश छन्दों का प्रयोग भी प्रासंगिक रूप से हुआ है। यह भाषाओं की आन्तरिक संचरणशीलता है।”

यह आन्तरिक संचरणशीलता ही हृदयपक्ष की थाती है जो वैमत्य के घेरे को तोड़कर एक राह बनाती है जिस पर चलने के लिए वह सर्जक भी आतुर रहता है जो इसे परवर्ती या पूर्ववर्ती से जोड़कर नहीं देखना चाहता। यह आन्तरिक संचरणशीलता ही है जो ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की रट लगाती रही है। डॉ. भवानीदत्त उप्रेती का मानना है -

“11वीं शताब्दी में नेमि साधु ने अपभ्रंश के तीन भेद बताए हैं - उपनागर, आभीर और ग्राम्य। वैयाकरणों ने इन्हीं तीन भेदों को, नागर, उपनागर और ब्राचड नाम दिया। 17वीं शताब्दी में मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के 27 भेद बताए। इस प्रकार से विभिन्न भेदों में विभाजित करना स्थानीय प्रभावों के कारण संभव हुआ। वस्तुतः अपभ्रंश साहित्य में एक ही परिनिष्ठित अपभ्रंश का स्वरूप मिलता है। आभीर लोग राजस्थान-गुजरात आदि प्रदेशों में फैले हुए थे और शौरसेनी प्राकृत के मेल से ग्रामीण बोली के रूप में इन्हीं प्रदेशों में अपभ्रंश का विकास हुआ। राजपूत शासन के विस्तार के साथ-साथ अपभ्रंश भाषा का भी विस्तार हुआ और वह राजभाषा तथा देशभाषा के पद पर आ गई।”⁶

मुझे यह लगता है भाषा भावएक्य की वाहिका है भावभेद की नहीं, अतः देशभाषा ग्राम्यभाषा आदि को स्वीकार करते हुए भी इतिहास पर नहीं, अपभ्रंश के साहित्य पर पाठक की दृष्टि रहती है इसीलिए एक तरफ वह विद्यापति की इन पंक्तियों में डूबता है -

सक्य बानी बहुअन भावइ।
पाउअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बअना सब जन मिट्टा
तें तैसन जंपजो अवहट्टा॥

तो दूसरी ओर उसे स्वयंभू की इन पंक्तियों में भी कम रस नहीं मिलता -

इंदेण समप्पिउ वायरणु। रसु भरहें वासे वित्थरणु।
पिंगलेण छंद पत्थारु। भंमहँ दंडिणिहि अलंकारु।
बाणेण समप्पिउ घणघणउ। तं अक्खर डम्बर घणघणउ।
हरिसेण णिपाणिउ गित्तणउ। अवरेहिं मि कइ हिं कइत्तणउ॥

(हरिवंश पुराण)

कवि इन्द्र से व्याकरण, भरतमुनि से रस, महर्षि व्यास से विस्तार का धैर्य, पिंगलाचार्य से छन्द-कुशलता, भामह और दण्डी से अलंकार पाने की बात करता है। इतना ही नहीं अक्षरों का समायोजन वह बाण से, हर्ष से निपुणता तथा अनेक कवियों से कवित्व की शक्ति प्राप्त करने की बात करता है। ऐसे में यह कहा जाय कि कवि को अपनी पूर्व परंपरा की समृद्धि की जानकारी पूरी तरह से है और आत्मविश्वास के साथ कुछ नया देना चाहता है -

जहाँ तक अपभ्रंश भाषा का प्रश्न है अपभ्रंश भाषा-साहित्य के एक साधारण विद्यार्थी की हैसियत से मेरा यह मानना है कि इतिहास या आलोचना दृष्टि के मामले में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपभ्रंश के लिए जो कुछ लिखा था हम अभी उसी के इर्द-गिर्द परिक्रमा कर रहे हैं। आचार्य शिवनाथजी ने प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक से अपने आवास पर हो रही बातचीत में कहा था कि सामग्री को सही परिप्रेक्ष्य में देखने व उपभोग करने की जो क्षमता शुक्लजी में थी वह बाद के आचार्यों में कम दिखायी देती है। शुक्लजी ने लोकभाषा, देशभाषा आदि को अपभ्रंश के परिप्रेक्ष्य में जिस तरह से देखा था लगभग वही नजरिया बाद के लोगों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रहा। रामविलासजी का मानना है कि अपभ्रंश की व्याख्या करते समय शुक्लजी ने यथेष्ट सावधानी बरती है। अब सीधे अगर शुक्लजी की पंक्तियाँ देखी जाएँ तो -

“अपभ्रंश की यह परम्परा विक्रम की 15वीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही। एक ही कवि विद्यापति ने दो प्रकार की भाषा का व्यवहार किया - पुरानी अपभ्रंश भाषा का और बोलचाल की देशी भाषा का।.....विद्यापति ने अपभ्रंश से भिन्न, प्रचलित बोलचाल की भाषा को ‘देशी भाषा’ कहा है।”

निश्चित तौर पर अपभ्रंश के विभिन्न रूप देखने को मिलेंगे। किसी भी साहित्यिक भाषा या लोकभाषा या देशी भाषा को हम स्थिर या रूढ़ स्थिति में नहीं देखना चाहते। हजारीप्रसादजी का मानना है कि - “वस्तुतः छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है, यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है। इसलिए दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है।”⁷⁷ कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा और साहित्य के विवेचन में पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों ने कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़ा। हर साहित्य का अपना समय उसमें प्रतिध्वनित होता है। अपभ्रंश के साथ भी ऐसा ही है। गुलेरीजी से लेकर रामसिंह तोमर या फिर शम्भूनाथ पाण्डेय तक ने अपभ्रंश की जिन साहित्यिक विशेषताओं को देखा है वह कम नहीं हैं।

साहित्यकार या सर्जक अपनी नम्रता में ही अपनी विशिष्टता की पहचान करा देता है। करकंडचरिउ में कनकामर ने लिखा है -

वायरणु ण जाणमि जइ वि छंडु। सुअ जलहि तरेव्वइँ जइ वि मंडु॥
जइ कह वण परसइ ललिय वाणी। जइ वुहयण लोयहो तणिय काणि॥
जइ कवियणे सेवहु मइँ ण कीय। जइ जडयण संगइ मलिण कीय॥

यह कितनी सहज-सरल स्वाभाविक स्वीकारोक्ति है, कनकामर कहते हैं - न तो मैं व्याकरण जानता हूँ न ही छन्द का ज्ञान रखता हूँ। मैं मन्दमति हूँ। शास्त्रों के समुद्र को पार करने की मेरी शक्ति भी नहीं है। किसी भी तरह से लालित्य पूर्ण वाणी की अभिव्यक्ति भी मेरे द्वारा नहीं हो पाती जिसके चलते बुद्धिमान लोगों के सामने जाने में मुझे लज्जा होती है। मैंने कभी श्रेष्ठ कवियों की संगति भी नहीं प्राप्त की बल्कि जड़मति लोगों की संगति से मेरी कीर्ति हीन बनी हुई है। यह नम्रता अपभ्रंश के एक श्रेष्ठ साधक कवि की है।

अपनी सारी सीमाओं के बाद भी साहित्य काल की सीमा का अतिक्रमण उसी तरह से करता है जैसे मनुष्य अपनी सीमित शक्ति के बाद भी जीवन की निरन्तरता के लिए बराबर गतिशील रहता है। भाषा और साहित्य दोनों की समृद्धि के साथ इतिहास की एक बड़ी समय-सीमा को विभिन्न रूपों में प्रभावित करनेवाला अपभ्रंश साहित्य जीवन का साहित्य है इसमें कोई किन्तु-परन्तु नहीं है।

1. हिन्दी साहित्य का अतीत, पृ. 32, लेखक - आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र. - वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-2।
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. 22, लेखक - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र. - बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्।
3. हिन्दी साहित्य का अतीत, पुरोवचन, पृ. 4, लेखक - आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र।
4. हिन्दी भाषा का विकास, पृ. 102, लेखक - गोपालराय।
5. वही. पृ. 101।
6. हिन्दी भाषा और लिपि का विकास एवं स्वरूप, पृ. 31, लेखक - डॉ. भवानीदत्त उत्प्रेती।
7. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, पृ. 39, लेखक - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक - राजकमल प्रकाशन।

18, नीचू बँगला (हिन्दी भवन)
विश्वनाथ शांति निकेतन-731235
मोबा. 9434142416, 9832976060



‘पउमचरिउ’ में
काव्य-सौन्दर्य-सृष्टि : कवि-दृष्टि
एवं प्रयोग

- डॉ. मधुबाला नयाल



णमह नव कमल कोमल मणहर वर वहल कन्ति सोहिल्लं
उसहस्स पाय कमलं स सुरासुर वन्दियं सिरसा
दीहर-समास णालं सह दलं अत्थ केसरुघवियं
वुह महुयर पीय रसं सयम्भु कव्वुप्पलं जयउ।'

आदि भट्टारक ऋषभ भगवान के चरण-कमल की वन्दना एवं काव्य के जयशील होने की कामना के साथ आरंभ चरितकाव्य 'पउमचरिउ' स्वयंभू की उत्कृष्ट सर्जना है। अपने युगीन प्रभाव के कारण स्वयंभू मन-वचन और काया की कर्म की दिशा में प्रवृत्ति का कारण जीव/मनुष्य के विचारों को मानते हैं। तत्कालीन धर्मसाधना से अनुप्राणित होने के कारण काम और क्रोध उनके लिए चित्त की वृत्ति नहीं - पाप हैं और इन पापों से तरने के लिए 'जिन-भक्ति' की शरण आवश्यक है।

'कवित-विवेक एक नहीं मोरे' - कवि तुलसी की उक्त पंक्तियों के लेखन से पूर्व ही स्वयंभू -

मइँ सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ।
वायरणु कयावि ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत्तु वम्खाणियउ।

ण णिसुणित पंच-महाय-कव्वु। णउ भरहु गेउ लक्खणु वि सव्वु।

णउ बुज्झितं पिंगल पत्थारु। णउ भम्मह-दंडि अलंकारु।1.3।

जैसी पंक्तियों की सर्जना द्वारा मानो बुधजनों के प्रति विनती, अपनी दीनता और काव्य-विद्या से अनभिज्ञता प्रदर्शित करने की परम्परा का श्रीगणेश करते हैं; और, काव्य को नाना पुराणनिगमागम 'सामण्ण भास छुडु सावडउ, छुडु आगम जुत्ति का वि घडउ' - प्रेरित स्वीकारते हुए अपनी भाषा को 'सामण्ण भास' घोषित करते हुए 'गामिल्ल भास' के परिहरण की बात भी करते हैं। डॉ. भागीरथ मिश्र लिखते हैं - "एक बात और इनकी रचनाओं में प्राप्त होती है और वह है - बोलचाल या लोकभाषा में काव्य-रचना की प्रेरणा।"² काव्य-कर्म में उनकी रुचि उन्हें सर्जना की दिशा में प्रेरित करती है; और वे अपना 'व्यवसाय' - काव्य-कर्म नहीं छोड़ना चाहते -

ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। वरि रड्डावद्धु कव्वु करमि।1.3.9।

तेईसवीं सन्धि के आरंभ में रसायन-रामायण की कथा पुनः प्रारंभ करते हुए स्वयंभू पुनः अपने को व्याकरणहीन, कवि-कर्मविहीन घोषित करते हैं -

तो कवणु गहणु अम्हारिसहिं। वायरण विहूणे हिं आरिसहिं।23.1.3।

कवि स्वयंभू का लक्ष्य स्पष्ट है - 1. काव्य-कर्म के प्रति संकल्पबद्धता का निर्वाह, 2. जिनशासन में वर्णित 'राम कथा' सुनना-सुनाना -

परमेसर पर सासणेंहिं, सुव्वइ विवरेरी।

कहें जिणें-सासणें केम थिय कह, राहव-केरी।1.9.9।

निराला जिसे 'कला' कहते हैं वह काव्य का सौन्दर्य है - 'कला केवल वर्ण, शब्द, छन्द, अनुप्रास, रस, अलंकार या ध्वनि की सुन्दरता नहीं, किन्तु इन सभी से सम्बद्ध सौन्दर्य की पूर्ण सीमा है।'³ शब्द, अर्थ, छन्द, प्रबंध, भाव, रस, दोष, गुण के अनेक भेदों का ज्ञान कवि-विवेक है। इन सबका प्रयोग स्वयंभू 'राहवकथा' के चित्रण में ही करना चाहते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी स्वयंभू को शास्त्रीय-परम्परा के कवियों में मान देते हैं - "स्वयंभू लोकभाषा के प्रेमी थे परन्तु रससृष्टि के अभिजात जनोचित नियमों के परिपालक भी थे।" आचार्य द्विवेदी स्वयंभू के 'हरिवंशपुराण' के अंशों को उद्धृत करते हैं - "उन्हें इन्द्र से व्याकरण, व्यास से विस्तरण, पिंगल से छन्द और प्रस्तार-विधि, भामह-दण्डी से अलंकरण, बाणभट्ट से घनघनित शब्दाडम्बर, हरिसेन तथा अन्य कवियों से कवित्व गुण और चउम्मुह से छन्दज, द्विपदी और ध्रुपदों से जड़ित पद्धडिया बन्ध प्राप्त हुआ।"⁴ स्वयंभू के काव्य में इस गम्भीर अध्ययन-मनन

का साक्ष्य विद्यमान है।” वे मनुष्य और प्रकृति का मनोरम सौन्दर्य चित्र खींचते हैं, सौन्दर्य याने नियमितता एवं चैतन्य की इंद्रियगोचर अभिव्यंजना। “सामान्य मनुष्य व्यावहारिक क्रिया में जिन भावों का विलय करता है, उन आंतरिक भावों को उत्कटता तक लेजाकर कलाकार उनका विलय कलाकृति में करता है। इन आंतरिक क्रिया-प्रवण भावों का रूपान्तरण कलात्मक भावना में - सौन्दर्यभावना में होता है।”⁵ उपमान-प्रयोग में कवि स्वयंभू की विलक्षण प्रतिभा का वैभव ‘पउमचरिउ’ में बिखरा हुआ है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य के इतिहास को अपभ्रंश-परम्परा से सम्बद्ध करते हुए भक्तिकाल पर पड़े इसके विशिष्ट प्रभाव के विश्लेषण को पर्याप्त विस्तार देते हैं। स्वयंभू ने परम्परा से प्राप्त ‘रामकथा’ को अपनी कल्पना से एक नया रूपायाम भी दिया है; और परवर्ती हिन्दी साहित्य के विविध कालों में प्राप्त परम्परा - वीरगाथा काल की युद्ध-वर्णन शैली, भक्ति-रीति-धारा के भक्ति-शृंगार-वर्णन की सुदृढ़ परम्परा, उपमान-प्रयोगों, ध्वनि-प्रयोगों, शब्दावृत्तियों, ध्रुपद, पद्धड़िया बन्ध से विकसित दोहा-चौपाई की पुष्ट शैली को भी विकास दिया है।

रावण का दशानन होना, समुद्र में शिलाओं का तैर जाना, सेतु-बन्धन आदि प्रसंगों को वे विज्ञान-बुद्धि द्वारा सहज बनाते हैं। अपने बाल-रूप में क्रीड़ा करता दशानन भण्डार में प्रविष्ट हो तोयदवाहन का हार देखता है जिसमें मणियों से जड़े नौ मुख हैं। उस हार को धारणकर रावण उसमें जड़ी मणियों में अपने मुख-बिम्ब के उभरने-वाले प्रतिबिम्बों से सुशोभित होकर दशानन के रूप में प्रसिद्धि पाता है -

सहसत्ति लग्गु करे दहमुहहों । मित्तु सुमित्तहो अहिमुहहों ।
परिहिउ पाव-मुहइँ समुट्टियइँ । णं गह बिम्बइ सु-परिट्टियइँ ।
णं सयवत्तइँ संचरिमइँ । णं कामिणि-वयणइँ कारिमइँ ।

ह ह ह

पेक्खेप्पिणु ताइँ दहाणणइँ थिर-तारइँ तरलइँ लोयणइँ ।

तें दहमुहु दहसिरु जणेण किउ पञ्चाणणु जेम पसिद्धिगउ । 9.4 ।

नाना क्षेत्रों से उपमान चयनकर वे उनसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि अलंकारों का सुन्दर-विधान तो करते ही हैं; श्लेष, अपह्नुति, उल्लेख आदि के प्रयोग में भी उनकी प्रतिभा उभरी है। केशवदास अलंकारों को - 1. साधारण 2. विशिष्ट - दो रूपों में विभाजित करते हैं। सामान्य अलंकारों को उन्होंने वर्ण, वर्ण्य, भूमिश्री, और राजश्री चार प्रकारों में रखा है।⁶ डॉ. भगीरथ मिश्र साधारण अलंकारों को वस्तु-वर्णन

का ही स्वरूप मानते हैं, जिसके कारण आवश्यक वस्तु का चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जावे। नाम-परिगणन, वस्तु-परिगणन द्वारा कवि के प्रकृति एवं पदार्थ-ज्ञान का परिचय तो मिलता ही है; साथ ही ये वर्णन तत्कालीन परम्पराओं और वनस्पति-शृंखलाओं के अन्वेषण में सहायक हो सकते हैं।

नाम-परिगणन - शकटामुख उद्यान-वन-वर्णन में आया पुरिमताल उद्यान कवि-कल्पना-प्रसूत हो सकता है; पर वनस्पतियों के नाम कल्पित नहीं - पुत्राग, नाग, कर्पूर, कंकोल, एला, लवंग, मधुमाधवी, विडंग, मरियल्ल, जीर, उच्छ, कुंकुम, कुडंग, नवतिलक, पद्माक्ष, रुद्र, द्राक्षा, खर्जूर, जंबीरी, घन, पनस, निम्ब, हड़ताल, ढौक, बहुपुत्रजीविका, सप्तच्छद, दधिपर्ण, नंदी, मंदार, कुन्द, इंदु, सिन्दूर, सिन्दीवर, पाडली, पीप्पली, नारिकेल, करमंद, कन्थारि, करियर, करीर, कनेर, कर्णवीर, मालूर, श्रीखण्ड, साल, हिन्ताल, ताल, ताली, तमाल, जम्बू आम्र, केचन, कदम्ब, भूर्ज, देवदारु, रिट्ट, चार, कौषम्ब, सद्य, कोरण्ट, अच्चइय, जुही जासवण, मल्ली, केतकी, जातकी, वटवृक्ष आदि।⁷ रावण के उपवन-वर्णन प्रसंग में भी अनेक वृक्षों के नाम-वर्णन विस्तार के साथ आए हैं।

ऋषेश्वर ऋषभ-जिनपरम्परा-वर्णन से प्रारंभ हुआ प्रस्तुत काव्य भरतेश्वर और बाहुबलि-प्रसंग के विविध अंशों - भरत और बाहुबलि की सेना के परस्पर टकराव, बाहुबलि के आरंभ में ईर्ष्या-कषायवश केवलज्ञान प्राप्त करने में विलम्ब होना, भरत द्वारा धरती सौंपा जाना, चार घातिया कर्म विनष्ट होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ विस्तार पाता है। इक्ष्वाकु वंश की परम्परा धरणीधर से आरंभ हुई है। तोयदवाहन के लंकापुरी में प्रवेश के साथ राक्षस-वंश का पहला अंकुर फूटता है।⁸ तोयदवाहन की परम्परा भी स्वयंभू द्वारा नाम-परिगणन के रूप में प्रस्तुत है। तोयदवाहन, महारक्ष, देवरक्ष, रक्ष, आदित्य, आदित्यरक्ष, भीमप्रभ आदि-आदि से आरंभ हुआ राक्षस वंश महारव, मेघध्वनि, ग्रहक्षोभ, नक्षत्रदमन, तारक, मेघनाद, कीर्तिधवल आदि नामों के साथ विस्तृत हुआ है। ये नाम काव्य-वस्तु के विस्तार में सहायक हुए हैं। इनमें ऐतिहासिकता का अन्वेषण कितना संभव है, यह पृथक् विचारणीय है; किन्तु, काव्य में निहित वर्णन-परम्परा को जोड़ने के लिए कवि ऐसी नाम-कल्पनाओं का सहारा लेता ही है; शायद ये भी उसी कड़ी को जोड़ते हों।

रावण की तपस्या-भंग-प्रयास के प्रसंग में कवि पुनः नाम-वर्णन-प्रयोग करता है - महाकालिनी, गगन-संचारिणी, भानु-परिमालिनी, काली, कौमारी, वाराही, माहेश्वरी, घोर वीरासनी, योग-योगेश्वरी, सोमनी, रतन ब्राह्मणी, इन्द्रासनी, अणिमा, लघिमा, प्रज्ञप्ति, कात्यायनी, डायनी, उच्चाटनी, स्तम्भिनी, मोहिनी वैरिविध्वंसिनी, वारुणी, पावनी,

कामसुखदायिनी, सर्व आकर्षिणी, शक्तिसंवाहिनी, आसुरी, राक्षसी, वर्षिणी, दारुणी, दुर्निवारा, दुर्दशिनी आदि शक्तियाँ उसे विचलित करने का प्रयास करती हैं। रावण तप कर एक हजार विद्याएँ सिद्ध करता है और छः उपवास कर चन्द्रहास खड्ग।⁹

रावण-मन्दोदरी प्रथम-दर्शन-प्रसंग में कवि निवृत्ति-प्रवृत्ति का समन्वय भी चित्रित करता है। पउमचरिउ की बुनावट समझने के लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति के समन्वय का स्वरूप समझना आवश्यक है। राम-सीता जीवन की प्रवृत्तियों में भाग लेते हुए, इनमें आसक्त होते हुए भी जीवन के अन्तिम क्षणों में विरक्ति (निवृत्ति मार्ग) अपना लेते हैं। दो भिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणों की दो भिन्न परिणतियों को जीवन की पूर्णता और सार्थकता के लिए अनिवार्य मानते हुए प्रस्तुत काव्य प्रवृत्ति-निवृत्ति के समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता है।

अरण्य काण्ड में भी कवि नाम-वर्णन कर जिनधर्म की मुनि परम्परा का एकबार पुनः स्मरण कराता है - विश्वनाथ, सम्भवनाथ, सुमतिनाथ, पद्मनाथ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांस, वासूपूज्य, विमलनाथ, अनन्तस्वामी, धर्म जिनेश्वर, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अर-अरहन्त, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत आदि बीसों जिनवरों की वन्दना राम करते हैं।

रावण-उपवन-विनाश प्रसंग में कवि स्वयंभू एक-एक वृक्ष का नामोल्लेख कर हनुमान द्वारा उसके उखाड़े जाने की प्रक्रिया सम्पन्न करवाते हैं। पारिजात, वटवृक्ष, कंकेली (अशोक), नाग चम्पक, वकुल-तिलक, तालवृक्ष, सहार वृक्ष, तमाल आदि वृक्ष हनुमान द्वारा आयुध की भाँति प्रयोग किए जाते हैं -

तालेण अण्णु । तरलेण अण्णु ।
 सालेण अण्णु । सरलेण अण्णु ।
 चन्दर्णेण अण्णु । वन्दर्णेण अण्णु ।
 णागेण अण्णु । चम्पर्णेण अण्णु ।
 णिम्बेण अण्णु । पक्खेण अण्णु ।
 सज्जेण अण्णु । अज्जुर्णेण अण्णु ।
 पाडलिँ अण्णु । पुप्फलिँ अण्णु ।
 केअइँ अण्णु । मालइँ अण्णु ।
 अणेण्ण अण्णु हउ एम सेण्णु।51.14।

काव्य की 56वीं सन्धि में विद्याधर-साधित विद्याओं का नाम-परिगणन हुआ है - पण्णत्ती, बहुरूपिणी, वैताली, आकाशतलगामिनी, स्तम्भिनी, आकर्षणी, मोहिनी, सामुद्री, रुद्री, केशवी, भोगेन्द्री, खन्दी, वासवी, बह्माणी, रौरवकारिणी, वारुणी, चन्द्री,

सूरी, वैश्वानरी, मातंगी, वानरी, हरिणी, वाराही, तुरंगनी, बलशोषणी, गारुड़ी, कामरूपिणी, बहुरूपधारिणी, आशाली आदि। यहाँ सागर के मध्य वेलंधर नगर है, जहाँ राम की सेना से सेतु और समुद्र युद्ध करते हैं। पूर्ववर्ती रामायण-ग्रंथों के समान 'पउम-चरिउ' में रावण विभीषण को लात मारकर तिरस्कृत नहीं करता, प्रत्युत चन्द्रहास खड़ा लेकर उस पर दूटता है; और, विभीषण मणि-रत्नों से अलंकृत खम्भा उखाड़कर उस पर दौड़ पड़ता है। लवण-अंकुश प्रसंग में राम-लक्ष्मण द्वारा भी न जीती जा सकने-वाली जातियों और क्षेत्रों का नामोल्लेख हुआ है, जिन्हें लवण-अंकुश जीतते हैं।¹⁰

संख्या-परिगणन - 'पउमचरिउ' की सोलहवीं सन्धि नीति-विद्या से सम्बद्ध है। स्वयंभूदेव ने यहाँ केवल संख्या-परिगणन का सहारा लिया है - चार विद्याएँ, छः गुण, छः बल, सात प्रकृतियाँ, सात व्यसनों से मुक्त, छः महाशत्रु, अट्टारह तीर्थ - इन नीतियों का पालनकर्ता है रावण। अणरण्ण से उत्पन्न अनन्तवीर्य नामक मुनि के समक्ष रावण एक व्रत लेता है -

जं मडँ ण समिच्छइ चारु-गत्तु। तं मण्ड लएमि ण पर-कलत्तु।18.3।

व्यतीत होते समय का परिज्ञान कवि स्वयंभू अपनी काल-ज्ञान-प्रतिभा द्वारा कराते हैं - प्राणी की आयु नाड़ियों के प्रमाण में परिमित कर दी गई है। एक हजार आठ सौ छियासी उच्छ्वासों के बराबर एक नाड़ी होती है। फिर नाड़ियाँ एक मुहूर्त जितने प्रमाण होती हैं। तीन हजार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासों का प्रमाण होता है। दो मुहूर्तों का आधा प्रहर प्रसिद्ध है। वह भी सात हजार पाँच सौ छियालीस उच्छ्वासों के बराबर होता है। इसी तरह नाड़ी-नाड़ी से घड़ी बनती है और चौंसठ घड़ियों से एक दिन-रात -

**किण्ण णियच्छहों आउ गलन्तउ। णाडि पमाणेहिं परिमिज्जन्तउ।
अट्टारह-सय-संख-पगासेहिं। सिद्धेहिं सडसिएहिं ऊसासेहिं।
णाडि-पमाणु पगासिउ एहउ। तिहिं णाडिहिं मुहुत्तु तं केहउ।
सत्त सयाहिएहिं ति-सहासेहिं। अण्णु वि तेहत्तरि-ऊसासेहिं।
एक्कु मुहुत्त-पमाणु णिवद्धउ। दु-मुहुत्तेहि पहरद्धु पसिद्धउ।
णाडिहें णाडिहों कुम्भु गउ चउसट्टिहिं कुम्भेहिं रत्ति-दिणु
एत्तिउ छिज्जइ आउ-वलु तें कज्जे थुव्वइ परम-जिणु।50.7।**

वस्तु-परिगणन - सहस्रकूट जिनभवन पहुँच राम एवं लक्ष्मण विश्वनाथ की वन्दना करते हैं; तदनन्तर भोजन-ग्रहण। लक्ष्मण की माँग पर वज्रकर्ण द्वारा प्रस्तुत किये

गए भोजन का वैशिष्ट्य कवि स्वयंभू सामान्य वर्णनात्मक शैली में नहीं, रूपकों एवं श्लेष द्वारा सज्जित बिम्बमालाओं में रचते हैं -

रेहइ असण-वेल बलहदहों। णाइँ विणिगगय अमय-समुदहों।
 धवल-प्पउर-कूर-फेणुज्जल। पेज्जावत्त दिन्ति चल चञ्चल।
 धिय-कल्लोल-वोल पवहन्ती। तिम्मण-तोय-तुसार मुअन्ती।
 सालण-सय-सेवाल-करम्बिय। हरि-हलहर-जलयर-परिचुम्बिय।
 किं बहु-चविण्ण सच्छाउ सलोणु स-विज्जणु।
 इड्ड-कलत्तु व तं भुत्तु जाहिच्छएँ भोयणु।25.11।

पच्चीसवीं सन्धि में कल्याणमाला के प्रसंग में तथा पचासवीं सन्धि के सीता-हनुमान के भेंट-प्रसंग में भी नाना व्यंजनों का परिगणन हुआ है।

काम-दशा-वर्णन-प्रसंग - 'पउमचरिउ' में विद्यमान काम-दशा-वर्णन-प्रसंग उपमान-प्रयोगों, रूपक, मानवीकरण आदि से समृद्ध है। अनेक स्थलों पर आए ऐसे प्रसंगों में काम-दशा-प्रभावित पात्रों में स्त्री और पुरुष दोनों ही हैं - नलकूबर की पुत्रवधू, शूर्पणखा, वनमाला, भामण्डल, रावण आदि। ऐसे स्थलों में विरह की दस दशाओं के चित्रण में कवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है -

चिन्त पढम-थाणन्तरें लग्गइ। वीयएँ पिय मुह-दंसणु मग्गइ।
 तइयएँ ससइ दीह-णीसासैं। कणइ चउत्थएँ जर-विण्णासैं।
 पञ्चमें डाहें अङ्कु ण मुच्चइ। छट्टएँ मुहहों ण काइ मि रुच्चइ।
 सत्तमें थाणें ण गासु लइज्जइ। अट्टमें गमणुम्माएहिँ भिज्जइ।
 णवमँ पाण संदेहहों दुक्कइ। दसमएँ मरइ ण केम वि चुक्कइ।21.9।

जायसी के पद्यावत में राजा रत्नसेन भी पद्यावती के दर्शन कर इसी दशा को प्राप्त होता है। सूफी कवियों ने विरह-दशा-चित्रण का यह रूप अपभ्रंश साहित्य से परम्परा-रूप में प्राप्त किया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

काव्य का उपमानरूप में प्रयोग

काव्य-उपमानों एवं व्याकरणिक उपमानों का प्रयोग 'पउमचरिउ' के सौन्दर्य को मौलिक आयाम देता है।

कांट ने सौन्दर्य की दो जातियाँ कल्पित की हैं - स्वायत्त एवं परायत्त। निरपेक्ष, सार्वभौमिक आनन्द देनेवाला सौन्दर्य स्वायत्त है और सौन्दर्य के बारे में विचार

करते हुए अवधारणाओं एवं तत्त्वों का भान मन में रखना उसे सौन्दर्य की परायत्त कोटि में ले जाता है। “स्वयं मनुष्य का सौंदर्य परायत्त की कोटि में आता है।”²¹ कला-सौंदर्य का प्रतिभाजन्य नियम ‘पउमचरिउ’ में देहीभूत है, इसमें कोई सन्देह नहीं। विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित आदित्य नगर में विद्यामन्दिर राजा की पुत्री श्रीमाला के स्वयंवर के अवसर पर बने सिंहासन ऐसे सुगठित है जैसे काव्य-वचन हों -

णिय-णिय थाणेहिं णिवद्ध मञ्च। महकवि कव्ववलाव व सु-सच्च।7.2।

युद्ध-वर्णन में भी काव्य-उपमान विद्यमान हैं -

साहणइ मि अवरोप्परु भिडन्ति। णं सुकइ कव्व-वयणइँ घडन्ति।

भञ्जन्ति खम्भ विहडन्ति मञ्च। दुक्कवि-कव्वालाव व कु-सञ्च।7.5।

व्याकरण का उपमान-रूप में प्रयोग - निर्घात और मालि के बीच हुए युद्ध में दोनों वीर - तरुवरो, पाषाणों, गिरिवरों, भीषण सर्प, गरुड़, कुम्भी और सिंह आदि विद्यारूपों से, भयंकर तीरों से युद्ध करते हुए महारथ, छत्र और ध्वजों को ऐसे छिन्न-भिन्न करते हैं जिस प्रकार वैयाकरण व्याकरण के पदों को -

छिन्दन्ति महारह-छत्त-धयइँ। वइयागरण व वायरण पयइँ।7.14.4।

राम-भरत मिलन-प्रसंग का आयोजन लतागृह में करते हुए स्वयंभू पुनः व्याकरणिक उपमान का प्रयोग करते हैं -

सु-पय सु-सन्धि सु-णाम वयण-विहत्ति-विहूसिय।

कह वायरणहों जेम केक्कय एन्ति पदीसिय।24.9।

राम-भरत मिलन के इस अवसर पर कैकेयी अपने आगमन, उपस्थिति से ऐसे बाँधती है मानो सु-सन्धि, सुन्दर भाषा-विभक्ति से युद्ध पद-बन्धन हुआ हो।

कामपरक उपमान प्रयोग - माया सुग्रीव एवं राम के युद्ध-प्रसंग में कवि ने रणकौशल की प्रस्तुति मानव की दो भिन्न प्रवृत्तियों को समीकृत कर काम-चेष्टाओं के उपमान-रूप में प्रयोग द्वारा की है -

अब्भिट्टइँ वेण्णि मि साहणाइँ । जिह मिहुणइँ तिह हरिसिय-मणाइँ।

जिह मिहुणइँ तिह अणुरत्ताइँ। जिह मिहुणइँ तिह पर-तत्ताइँ।

जिह मिहुणइँ तिह कलयल-करइँ। जिह मिहुणइँ तिह मेळ्ळिय-सरइँ।43.14।

उत्प्रेक्षा-प्रयोग - कैलास-प्रसंग पउमचरिउ में भिन्न रूप में आया है। नित्यालोक नगर की विद्याधर कुमारी रत्नावली से विवाह कर लौटता हुआ रावण

आकाश में अपने पुष्पक विमान के रुक जाने से क्रुद्ध हो उठता है। इस क्षेत्र में तपस्य महामुनि के उग्र तेज के सम्मुख विवश हो वह विमान तो भूमि पर उतार लाता है किन्तु अपनी हजार विद्याओं का स्मरण कर कैलास गिरि को उखाड़ लेता है। इन्द्र के महान ऐरावत की सूँड के समान आकारवाली हथेली से धरती उठा लिये जाने पर भुजंग भग्न, शिलातल खण्डित, शैलशिखर स्खलित हो जाते हैं -

कत्थङ्ग भमरोलिउ धावडाउ। उड्डन्ति व कङ्गलासहो जडाउ।
कत्थङ्ग वणयर णिगगय गुहेहिं। णं वमङ्ग महागिरि बहु-मुहेहिं।
उच्छलिउ कहि मि जलु धवल-धारु। णं तुट्टेवि गउ गिरिवरहो हारु।13.5।

कहीं गुफाओं से सिंह ऐसे निकलने लगते हैं मानो पर्वत अनेक मुखों से वमन कर रहा हो, कहीं जल-धार यों उछलती है मानो पर्वत-हार टूट गया हो। राम-भरत-मिलन के प्रसंग में सैकड़ों युवतियों से घिरी कैकेयी की छवि उत्प्रेक्षा में बँधकर अनूठी व्यंजना में ढल गई है -

लक्खिज्जङ्ग भरहहो तणिय माय। णं गय-घड भड भञ्जन्ति आय।
णं तिलय-विहूसिय वच्छराइ। स-पयोहर अम्बर-सोह णाई।
णं भरहहो सम्पय-रिद्धि-विद्धि। णं रामहो गमणहो तणिय सिद्धि।24.9।

अयोध्या काण्ड के दशरथ-कंचुकी-प्रसंग में कंचुकी द्वारा वार्द्धक्य का वर्णन करने तथा सत्यभूति मुनि द्वारा प्रब्रज्या ग्रहण हेतु उत्प्रेरित किए जाने से उस दिशा में प्रेरित राजा द्वारा कैकेयी के पुत्र भरत को राज्य का अनुपालक नियुक्तकर, बलदेव राम को छत्र-सिंहासन और धरती भरत को सौंप देने का आदेश दिए जाने पर, वन-गमन को उद्यत राम का साथ देने के लिए जानकी का अपने भवन से निकलना कवि के शब्दों में मानो हिमालय से गंगा नदी निकलना, छन्द से गायत्री का छूटना, शब्द से विभक्ति निकलना, सत्पुरुष से कीर्ति का निकलना, रम्भा का अपने स्थान से चूकना है (23.6.2-8)। ऐसे कई उत्प्रेक्षा-समृद्ध प्रसंग काव्य में हैं।

उपमा-प्रयोग - रावण द्वारा जिनेन्द्र की पूजा-प्रसंग में उसके द्वारा मूर्च्छना क्रम-कम्प और त्रिगाम, षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद आदि सात स्वरों से युक्त वीणा बजाए जाने का प्रसंग स्वयंभू के संगीत विद्या के ज्ञाता होने का संकेत है। उस संगीत के सौंदर्य की अभिव्यक्ति कवि नाना उपमानों से कैसे करते हैं, द्रष्टव्य है - (वह संगीत) कलत्र की भाँति अलंकार-सहित, सुरवनिता की तरह आरोह-अवरोह, स्थायी, संचारी भावों से परिपूर्ण, नववधू के ललाट की तरह तिलक से सुन्दर, आसमान की तरह मन्दतार, सन्नद्ध सेना की तरह लइयताण, धनुष की तरह

सजा प्रसन्न बाण-सा है। उस संगीत पर मुग्ध हुए धरणेन्द्र उसे 'अमोघ विजय' नामक विद्या देते हैं।

लोक से उपमान-चयन - विशाल नन्दन वन में हनुमान द्वारा सीता-दर्शन-प्रसंग में स्वयंभू सीता के सौन्दर्य-प्रस्तुतीकरण में जिन उपमानों का प्रयोग करते हैं वे उपमान उनके लोक-भ्रमण का साक्ष्य तो जुटाते ही हैं; स्थान विशेष के वासी और उनके सौन्दर्य की विशिष्ट भंगिमा के अंकन का माध्यम बनकर कवि की पैनी दृष्टि का परिचायक भी बने हैं -

वर-पोट्टरिँहें मायन्दिँहें। सिरि-पव्वय तणिँहें मण्डिँहें।
 सुललिय-पुट्टिँहें सिङ्गारियाँ। पिण्डत्थणियँहें एलउरियाँ।
 वारमई केरेँहें वाहुलेहिं । सिन्धव-मणिबन्धहिं वट्टुलेहिं।
 माणुग्गीवँहें कच्छायणेण। उट्टुउडें गोग्गडियँहें तणेण।
 दसणावलियँहें कण्णाडियँहें। जीहँहें कारोहण-वाडियँहें।
 भउहा जुएण उज्जेणएण। भालेण वि चित्ताऊडएण।
 काओलिहिं केस-विसेसएण। विणएण वि दाहिण एसएण।49.8।

नन्दीश्वर व्रत-प्रसंग में पुनः कवि इसी चातुर्य से पुष्पमालाओं का ही नहीं, क्षेत्र/अंचल विशेष के नारी-सौन्दर्य को विशेष प्रस्तुति का रूप देता है -

एवं च मालाहिं अण्णण्ण-रूवाहिं। कण्णाडियाहिं व सर-सार-भूआहिं।
 आहीरियाहिं व वायाल-भसलाहिं। वर-लाडियाहिं व मुह-वण्ण-कुसलाहिं।
 सोरट्टियाहिं व सव्वंग मउआहिं। मालविणियाहिं व मज्झार-छउआहिं।
 मरहट्टियाहिं व उद्दाम-वायाहिं। गेय-झुणिहिं व अण्णण्ण छायाहिं।71.9।

ये चयनित उपमान इस तथ्य का संकेत हैं कि स्वयंभू ने न केवल कर्नाटक, आहीर, सोरट्ट, मालव, सिन्ध, कच्छ, उज्जैन, महाराष्ट्र आदि क्षेत्रों का परिभ्रमण ही किया था प्रत्युत वे इन क्षेत्रों के लोकमानस की प्रवृत्तियों, उनके सौन्दर्य, वनस्पतियों, पशु-पक्षी-जगत, नदियों-पर्वतों से भी भली-भाँति परिचित थे। उनका यह भ्रमण भले ही धार्मिक विश्वास का प्रतिफलन हो; किन्तु ये वर्णन इस बात का भी संकेत देते हैं कि जहाँ उन्हें काव्य, व्याकरण, नक्षत्र-ज्योतिष, आयुध, संगीत-वाद्य आदि कलाओं का सम्यक् ज्ञान था, वहीं उनकी लोक-जीवन में भी गहरी पैठ थी।

सीतादेवी के सौन्दर्य की प्रस्तुति - ज्योत्स्ना की तरह अकलंक, अमृत की तृष्णा की तरह तृप्तिरहित, जिनप्रतिमा की तरह निर्विकार, रति-विधि की तरह विज्ञान-

कौशल से निर्मित, छहों जीव निकायों को जीव-दया की भाँति अभय प्रदान करनेवाली, लता की तरह अभिनव कोमल रंगवाली, पावस शोभा की तरह पयोधरों को धारण करनेवाली, धरती की तरह सब कुछ सहनेवाली और अडिग, विद्युत् की तरह कान्ति से उज्वल, समुद्र-वेला की भाँति सब ओर लावण्य से भरपूर, शुभ्र कीर्ति की तरह निर्मल और त्रिलोक-स्थित शोभा के रूप में - अपनी उपस्थिति से काव्य को एक नयी भंगिमा से मढ़ती है।

सन्ध्या-सौन्दर्य की अभिव्यंजना हेतु कवि वीभत्स उपमान के प्रयोग में अलं नहीं करता -

जाइ सञ्ज आरत्त पदीसिय। णं गय-घड सिन्दूर - विहूसिय।

सूर-मंस रुहिरालि-चच्चिय। णिसियरि व्व आणन्दु पणच्चिय।23.9।

राम-रावण सेना के परस्पर टकराने को कवि व्याकरणिक उपमानों में बाँधता है -

वायरणु जेम जं पुज्जणीउ। वायरणु जेम स विसज्जणीउ।

वायरणु जेम आयम-णिहाणु। वायरणु जेम आएस-थाणु।

वायरणु जेम अत्थुव्वहन्तु। वायरणु जेम गुण-विद्धि देन्तु।

वायरणु जेम विग्गह-समाणु। वायरणु जेम सन्धिज्जमाणु।

वायरणु जेम अव्वय णिवाउ। वायरणु जेम किरिया सहाउ।

वायरणु जेम परलोय-करणु। वायरणु जेम गण लिंग-सरणु।58.9।

विराधित के इस सन्देश में राज्य की तुलना के लिए व्याकरण के अंग - विसर्ग, वर्णागम, विग्रह, सन्धि, अव्यय, निपात, गुण, क्रिया, गण आदि उपमान रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

रूपक सृष्टि - ऋतुसौन्दर्य-वर्णन-प्रसंग में स्वयंभू केवल वर्णनात्मकता का सहारा नहीं लेते प्रत्युत् उपमान-प्रयोगों से रूपक-सृष्टि कर मानस-बिम्ब का गठन करते हैं। रूपकों की छटा इस प्रसंग में दर्शनीय है - कमलों के वासगृह में शब्दरूप नूपुरों से प्रविष्ट मधुकरीरूपी अन्तःपुर, कोयलरूपी कामिनी, शुकरूपी सामन्त, कुसुम- मंजरिरूपी ध्वजाएँ, वानररूपी माली से सजे वसन्त के श्रीगृह में वसन्त का प्रवेश होता है। नर्मदारूपी बाला प्रिय से अनुरक्त होकर झूमने लगती है व श्रृंगार करती है -

सररुह-वासहरँ हिँ रव-णेउरु। आवासिउ महुअरि-अन्तेउरु।

कोइल-कामिणीउ उज्जाणेँहिँ। सुय-सामन्त लयाहर-थाणेँ हिँ।

पंकय-छत्त-दण्ड सर णियरेंहिं। सिहि-साहुलउ महीहर-सिहरेहिं।
 कुसुमा-मञ्जरि-धय साहारेंहिं । दवणा-गण्ठिवाल केयरेंहिं।
 वाणर-मालिय साहा वन्देंहिं। महुवर मत्तवाल मयरन्देंहिं।
 मञ्जुताल कल्लोलावासेहिं। भञ्जा अहिणव-फल-महणासेहि।
 पेक्खेंवि एन्तहों रिद्धि वसन्तहों महु-इक्खु-सुरासव-मन्ती।
 गम्मय-वाली भुम्भल-भोली णं भमइ सलोणहों रती ।14.2।

सूर्यास्त का बिम्ब उपमान सज्जित अलंकृत शैली में साकार हो उठा है -

सहसकिरणु सहसत्ति णिउड्डेवि। आउ णाडँ महि-वहु अवरुण्डेवि।

राम द्वारा अंगद के माध्यम से रावण को भेजा गया संदेश 'रूपक' का अन्यतम उदाहरण है - कुम्भकर्णरूपी सँड से सजा दशमुखरूप हस्ति और रामरूप सिंह।¹²

समर की परिकल्पना भोज के रूप में करते हुए कवि आयुधों को व्यंजनरूप में देखता है - तीखे तीर भात, मुक्के और चक्र घृत-धारा, सर-झसर और शक्ति सालन, तीरिय-तोरभ कढी, मुद्गर और मुसुंठी पत्तों का साग, सव्वल-हुलि, हल, करवाल, ईख की जगह तथा फर कणय-कोत और कल्लवण चटनी -

दुप्पेक्ख तिक्ख-णाराय-भत्तु। कण्णिथ-खुरुप्प-अग्गिमउ देत्तु।
 मुक्केक्क-चक्क-चोप्पडय धारु। सर-झसर-सत्ति-सालणय-सारु।
 तीरिय-तोमर-तिम्मण-णिहाउ। मोगगर-सुसुण्ठ-गय-पत्त-साउ।
 सव्वल-हुलि-हल-करवाल-इक्खु। फर-कणय-कोन्त-कल्लवण-तिक्खु।58.6।

काल 'पउमचरिउ' में महानाग के रूपक में उपस्थित है -

विसमहों दीहरहों अणिट्टियहों। तिहुयण-वम्मीय-परिट्टियहों।

को काल-भुयंगहों उव्वरइ। जो जगु जें सव्वु उवसंधरइ ।78.2।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी इन दो नागिनों से घिरा है यह कालनाग। साठ संवत्सर उसके साठ पुत्र हैं जिनकी दो पत्नियाँ - उत्तरायण-दक्षिणायन नाम से प्रसिद्ध हैं। चैत्र से फागुन तक उसके छः विभाग हैं।

श्लेष - 'पउमचरिउ' का एक अन्य आलंकारिक वैशिष्ट्य है - श्लेषपरक शब्दावलियों का प्रयोग। काव्य में अर्थ की समृद्धि बढ़ाने, उसमें एकात्मकता लेआने में श्लेष कितनी सक्रिय भूमिका का निर्वाह करता है, इसे 'पउमचरिउ' में सहज ही देखा जा सकता है। परस्पर-विरोधवाले दो अर्थ सूचित करनेवाले शब्द भाषा में नहीं होते तो

कवि को एक के स्थान पर दो-दो शब्दों का उपयोग करना पड़ता। समूची भाषा में ही अनेकार्थता अनुस्यूत है। कवि ने इस अनेकार्थता का कौशल से उपयोग किया है -

लेहु लिहेप्पिणु जग-विक्र्वायहो । तुरिउ विसज्जिउ महिहर-रायहो ।
अग्गएँ घित्तु वद्धु लम्पिक्कु व । हरिणक्खरहिँ लीणु णण्डिक्कु व ।
सुन्दरु पत्तवन्तु वर-साहु व । णाव-वहुलु सरि-गंग-पवाहु व ।30.2।

अपहृति - अशोक वन में बैठी सीता का रूप विभीषण को कैसा प्रतीत होता है, इसके लिए कवि अपहृति का सहारा लेता है -

एह ण सीय वणँ द्विय भल्ली । सव्वहुँ हियएँ पइद्विय भल्ली ।
एह ण सीय सोय-संपत्ती । लंकहँ वज्जासणि संपत्ती ।
एह ण सीय दाढ वर-सीहहोँ । गय-गण्डत्थल-वहल-रसीहहोँ ।
एह ण सीय जीह जमरायहोँ । केवल हाणि जसुज्जम रायहोँ ।57.4।

विशल्या के सौन्दर्य-वर्णन-प्रसंग में अपहृति की छटा बिखरी है -

किं चलण-तलगगइँ कोमलाइँ । णं णं अहिणव-रत्तुप्पलाइँ ।
किं ऊरु परोप्परु भिण्ण-तेय । णं णं णव रम्भा-खम्भ एव ।69.21।

भाषिक प्रयोग - इस प्रसंग में उन शब्दों का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है जिनका कवि ने अनेक अर्थच्छवियों में अनेकशः प्रयोग किया है। ऐसा ही एक शब्द है - लक्ष्मण। लक्खण कहाँ नहीं, सर्वत्र उसकी उपस्थिति है - चित्र में, सौन्दर्य में, शृंगार में, संगीत में -

उव्वेलिज्जइ गिज्जइ लक्खणु । मुरववज्जे वाइज्जइ लक्खणु ।
सुइ-सिद्धन्त-पुराणेहिँ लक्खणु । ओंकारेण पढिज्जइ लक्खणु ।
अण्णु वि जं जं किं वि स-लक्खणु । लक्खण णामे वुच्चइ लक्खणु ।24.1।

लोक-चित्रण - पउमचरिउ में लोक-चित्रण को विस्तार मिला है - कहीं शृंग सहित और रहित बछड़ों से युक्त गोठ है, तो कहीं तमाल-ताड़ से आच्छादित वन। स्वयंभू की कवि-प्रतिभा वनों में भी जिनालय साकार कर लेती है -

वणं जिणालयं जहा स चन्दणं । जिणिन्द सासणं जहा स-सावयं ।
महा-रणङ्गणं जहा सवासणं । मइन्द कन्धरं जहा स-केसरं ।
जिणेस-णहाणयं जहा महासरं । कु-तावसे तवं णहा मयासवं ।
मुणिन्द जीवियं जहा स-मोक्खयं । महा णहङ्गणं जहा स-सोमयं ।24.14।

- श्लेष एवं उपमा की छटा यहाँ काव्य-बन्ध का रूप लेती है।

बिम्ब-सृष्टि - गति-क्रियात्मक-ध्वन्यात्मक बिम्बों की प्रस्तुति ने 'पउमचरिउ' में चार चाँद लगा दिए हैं। ये बिम्ब मिश्रित भी हैं, पृथक् भी। रुद्रभूति-लक्ष्मण-युद्ध प्रसंग में धनुष के तेज का वर्णन तो हुआ ही है, साथ ही कवि स्वकल्पना द्वारा गति-क्रियात्मक-ध्वन्यात्मक बिम्बों की ऐसी झड़ी लगाता है जो सर्वथा मौलिक हैं, जैसे - तीव्र हवा से आहत मेघ, मेघ-गर्जना से गिरते वज्र अशनि, टूटते शिखर, दलित होती धरती, साँपों का विषाग्नि छोड़ना, समुद्र में उसके पहुँचते ही ज्वालाओं का चिन्गारी फेंकना, सीपी-शंख सम्पुट का जल उठना, फटी सीपियों से मुक्ताफल का धक्-धक् करना, सागर-जल की कड़-कड़, किनारों का हस-हस कर धँसना, आदि।

लक्ष्मण के क्रोध को कलि-कृतान्त की संज्ञा मिली है -

धगधगधगन्तु। थरथरथरन्तु।

'हणु हणु' भणन्तु। णं कलि कियन्तु।27.9।

अरण्य के महावटवृक्ष पर स्वर करते पक्षियों की बोली को कवि ककहरे के रूप में देखता है, महावट मानो गुरु हो -

गुरु-वेसु करेवि सुन्दर-सराइँ। णं विहय पढावइ अक्खराइँ।
वुक्कण-किसलय क-क्का रवन्ति। वाउलि-विहइ कि-क्की भणन्ति।
वण-कुक्कुड कु-क्कू आयरन्ति। अण्णु वि कलावि के-क्कइ चवन्ति।
पियमाहवियउ को-क्कउ लवन्ति। कं-का वप्पीह समुल्लवन्ति।27.15।

पावस ऋतु की ग्रीष्म ऋतु पर विजय एक नरेश्वर की दूसरे नरेश्वर पर ध्वनिबिम्बों में बाँधी गई विजय-आयोजना है -

जं पाउस - णरिन्दु गलगज्जिउ। धूली - रउ गिम्भेण विसज्जिउ।
धगधगधगधगन्तु उद्धाइउ। हसहसहसहसन्तु संपाइउ।
जलजलजलजलजल पचलन्तउ। जालावलि-फुल्लिंग मेल्लन्तउ।
झडझडझडझडन्तु पहरन्तउ। तरुवर-रिउ-भड-थड-भज्जन्तउ।28.2।

मानस-बिम्ब - डूबते सूरज के बिम्ब-सौन्दर्य को वृक्ष के रूपक में बाँधते हुए कवि स्वयंभू मानस-बिम्ब की सृष्टि कहते हैं - सूर्य डूबने के पीछे एक कारण निहित है - उसका महायुद्ध-दुःख देखने में असमर्थ होना। आकाशरूपी वृक्ष में सूर्यरूपी सुन्दर फूल सुशोभित हो गया है जिसके साथ शोभित हैं दिशाओं रूपी शाखाएँ -

अहवइ णह-पायवहो विलासहो । सयल दियन्तर-दीहर-डालहो ।
 उवदिसरंखोलिर-उवसाहहो । सञ्झा-पल्लव-णियर-सणाहहो ।
 बहुवव-अब्भ-पत्त-सच्छायहो । गह-णक्खत्त-कुसुम-संघायहो । 63.11।

सीता की अग्नि-परीक्षा-प्रसंग में कवि स्वयंभू ने अपनी परिकल्पना द्वारा अग्नि की लपटों को सुन्दर नव कमलों से ढके सरोवर का रूप दे दिया है। उस सरोवर में एक विशाल कमल उग आता है जिसके मध्य मणियों और स्वर्ण से सुन्दर एक सिंहासन उत्पन्न हो जाता है -

ताम तरुण तामरसेहिं छण्णउ । सो ज्जे जलणु सरवरु उप्पण्णउ ।
 अण्णु वि सहसवत्तु उप्पण्णउ । दियवए आसणु णं अवइण्णउ । 83.14।

सीता के चरित्र का उज्ज्वल पक्ष 'पउमचरिउ' में उभरा है। भक्ति-प्रधान काव्य होने के कारण इस काव्य में स्वयंभू मानव-जीवन की सार्थकता जिनभक्ति के अवलम्बन में ही मानते हैं। फलतः 'पउमचरिउ' का प्रत्येक चरित्र तपश्चरण अंगीकार कर समस्त आसक्तियों - स्नेह का त्यागकर पूर्वजन्म-कृत कर्म-बन्धन से मुक्ति की इच्छा व्यक्त करता है। नारी-देह की गर्हणा धर्म-शास्त्रों का विवेच्य विषय रहा है, यहाँ भी वह उसी रूप में विद्यमान है, हालाँकि आधुनिक आलोचना-दृष्टि इस गर्हणा को नहीं स्वीकारती। 'राम के चरित्र में महाकाव्योचित गरिमा - जो दुःख और सुख में, सफलता और विफलता में, उल्लास में और अवसाद में अद्वितीयता और अपूर्वता ला देती है - नहीं आ पायी है। सीता अवश्य उज्ज्वल बनी है, पर अन्त तक जाकर वह भी पराजित-सी होकर वैराग्य मार्ग का अवलम्बन करती है, ताकि फिर दूसरे जन्म में स्त्री होकर जन्म न लेना पड़े।'¹³

'पउमचरिउ' रस-सृष्टि और चरित्र-संचरण में 'विरुद्धों का सामंजस्य' लिये है। प्रवृत्ति-निवृत्ति, शृंगार-वैराग्य, शृंगार-युद्ध, काव्य-वस्तु-अभिव्यंजना, संगीत एवं भाषित ध्वनियों का चमत्कार 'कव्वुप्पल' (काव्य-उत्पल) में क्या कुछ नहीं है, जिसे कवि-लेखनी ने न सँवारा हो। फिर भी, काव्य में सरल मानस की ही अभिव्यक्ति हुई है। प्रसंग प्रेम का हो या युद्ध का - अभिव्यक्तिगत सहजता सर्वत्र विद्यमान है। 'पति की वीरता को सहज गर्व का विषय बनाकर वीर बालाएँ ऐसी दर्पोक्तियाँ करती हैं कि बस देखते ही बनता है। यह एकदम नवीन प्राण-स्पन्दी काव्य है।'¹⁴

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी स्वयंभू एवं पुष्पदन्त को भारतीय भाषाओं के काव्य के अद्भुत ज्वलन्त ज्योतिष्क मानते हुए उन्हें प्रथम श्रेणी के कवियों में स्थान

पाने योग्य मानते हैं।¹⁵ काव्य-सौन्दर्य-समाहार की दृष्टि से कहा जा सकता है कि स्वयंभू अपने 'कव्वु' (कवि-कर्म) में सफल हुए हैं।

-
1. पउमचरिउ - महाकवि स्वयंभू, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, 1.1.1-2
 2. डॉ. भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 280
 3. निराला, प्रबन्ध प्रतिमा, पृ. 272
 4. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-6, पृ. 297
 5. रा.भा. पाटणकर, सौन्दर्य मीमांसा, पृ. 143
 6. केशवदास, कविप्रिया, पाँचवाँ प्रभाव
 7. पउमचरिउ - 3.1.1-13
 8. पउमचरिउ - 6.1
 9. पउमचरिउ - 9वीं सन्धि, 11, 12, 13
 10. पउमचरिउ - 82.6.1-7
 11. रा.भा. पाटणकर, सौन्दर्य मीमांसा, पृ. 91
 12. पउमचरिउ - 58.3.3-9
 13. पउमचरिउ - 83.17.9
 14. पउमचरिउ - 49.1.1
 15. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली-6, पृ. 291

- आचार्य

हिन्दी विभाग,

कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल



कवि स्वयम्भू कृत पउमचरिउ में स्तुति काव्य

- डॉ. उमा भट्ट



साहित्य रचना की दृष्टि से ईसा की छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का समय अपभ्रंश भाषा का है।¹ छठी शताब्दी के अलंकारशास्त्री भामह ने अपने काव्यालंकार में अपभ्रंश की गणना संस्कृत और प्राकृत के साथ की है।² अपभ्रंश साहित्य को पुराणकाव्य, चरितकाव्य, कथाकाव्य तथा मुक्तककाव्य आदि में वर्गीकृत किया जा सकता है जिसमें भक्ति, नीति, निवृत्ति, शृंगार तथा वीररसपरक रचनाएँ मिलती हैं। अपभ्रंश के प्रमुख कवियों में स्वयम्भू, पुष्पदंत, कनकामर, रङ्गधू, नयनन्दि, वीरकवि, रामसिंह, सरहपा, जोइन्दु आदि प्रमुख हैं।

महाकवि स्वयम्भू आठवीं शती के कवि हैं।³ इनके तीन ग्रंथ उपलब्ध हैं - पउमचरिउ, रिड्डणेमिचरिउ तथा स्वयम्भूछन्द। पउमचरिउ का विषय रामकथा है। रिड्डणेमिचरिउ में तीर्थकर नेमिनाथ, उनके चचेरे भाई कृष्ण तथा कौरव-पाण्डवों की कथा है। स्वयम्भूछन्द में प्राकृत एवं अपभ्रंश के छंदों का विवेचन किया गया है।

कर्नाटक निवासी स्वयम्भू की गणना भारत के श्रेष्ठतम कवियों में होती है। प्रबन्ध काव्य के क्षेत्र में स्वयम्भू अपभ्रंश के आदिकवि माने जाते हैं तथा उनकी तुलना संस्कृत के आदिकवि वाल्मीकि से की जाती है।⁴

पउमचरिउ अपभ्रंश की महाकाव्य परंपरा का काव्य है जिसे पुराण काव्य परंपरा के अंतर्गत रखा गया है। यह जैन परंपरा में लिखित रामचरित है। अतः राम के चरित्र को जैन

दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है।⁵ स्वयम्भू से पूर्व आचार्य रविषेण संस्कृत में पद्मपुराण की तथा विमलसूरि प्राकृत में पउमचरिय की रचना कर चुके थे। लोकभाषा अपभ्रंश में इसकी पूर्ति स्वयम्भू ने की। यद्यपि स्वयम्भू ने काव्य-रचना का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति माना है⁶, परन्तु विद्वानों ने रामकथा के माध्यम से जिनभक्ति का प्रचार एवं जैन दर्शन की सार्थकता सिद्ध करना भी स्वयम्भू का लक्ष्य कहा है।⁷ अन्य जैन रचनाओं की तरह पउमचरिउ भी धार्मिक भावना से अनुरंजित है तथा इसके सभी प्रधान पात्र जिनभक्त हैं। संसार की अनित्यता, जीवन की क्षणभंगुरता और दुःख-बहुलता दिखाकर विराग उत्पन्न करके शान्त रस में काव्य तथा जीवन का पर्यवसान ही इन कवियों का मूल प्रयोजन रहा है।⁸ परन्तु जैसा कि डॉ. रामसिंह तोमर लिखते हैं, धर्म और साहित्य का अद्भुत सम्मिश्रण जैन साहित्य में मिलता है। जिस समय जैन कवि काव्य रस की ओर झुकता है तो उसकी कृति सरस काव्य का रूप धारण कर लेती है और जब धर्मोपदेश का प्रसंग आता है तो वह पद्यबद्ध धर्म-उपदेशात्मक कृति बन जाती है।⁹

जैन धर्म के पूज्य पुरुषों में 'जिन' का सर्वोच्च स्थान माना जाता है, यद्यपि उन्हें जगतसृष्टा नहीं माना जाता परन्तु कठोर साधना द्वारा कर्मफल तथा कषायों को नष्ट करके अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान तथा आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के कारण जैन भक्तों ने 'जिन' के लिए उन सभी विशेषणों का प्रयोग किया है जो वेद-पुराणों में सामान्यतः ईश्वर के लिए प्रयुक्त होते हैं।¹⁰ 'जिन' की भक्ति जैन धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। 'जिन' को 'जिनेन्द्र', 'तीर्थकर', 'स्वयम्भू', 'अर्हत्' आदि नामों से पुकारा गया है। साधना द्वारा कर्ममल को नष्ट करने के कारण इन्हें 'जिन' कहा जाता है।¹¹ संयम धारण करने से वे पूज्य माने जाते हैं। अतः जो देवी-देवता संयमरहित हैं उन्हें जैन धर्म में पूज्य नहीं माना जाता। संसार से विरक्त देव, गुरु, धर्म, आगम आदि पूज्य माने जाते हैं तथा उन्हें आराधना-अर्चना करने योग्य माना जाता है।¹²

जैन परम्परा में सर्वोच्च स्थान 'जिनेन्द्र' का है। कवि स्वयम्भू कृत पउमचरिउ में जितनी भी स्तुतियाँ आई हैं वे सब जिनेन्द्र के प्रति अभिव्यक्त हैं। जैन परम्परा में राम सर्वोच्च शक्ति नहीं हैं। राम के चरित्र और शक्ति पर वहाँ शंकाएँ प्रकट की गई हैं -

जइ रामहो तिहुअणु उवरे माइ। तो रावणु कहि तिय लेइ जाइ ॥¹³

अर्थात् यदि राम के उदर में त्रिभुवन समा जाता है तो रावण उनकी पत्नी का अपहरण कर कहाँ ले जाता है? राम यहाँ एक सामान्य मानव के रूप में हैं, न वे देवकोटि में हैं और न ही महान आदर्श।¹⁴ स्वयम्भू ने अन्य देवी-देवताओं को जिनेन्द्र की वन्दना करते हुए दिखाया है। इनमें हिन्दू पौराणिक देवी-देवता भी हैं तथा नाग, नर, किन्नर आदि भी।¹⁵ अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में भी संस्कृत तथा प्राकृत के प्रबन्धकाव्यों की ही तरह मंगलाचरण, गुरुवन्दना, सज्जन-दुर्जन स्मरण, आत्मनिन्दा आदि प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।¹⁶ पउमचरिउ का प्रारंभ ऋषभदेव की वन्दना से होता है। दो पंक्तियों में की गई इस वन्दना को मंगलाचरण कहा जा सकता है -

गमह णव कमल कोमल मणहर वर वहल कन्ति सोहिळ्ळं।

उसहस्स पाय कमलं स सुरासुरं वन्दियं सिरसा ॥¹⁷

अर्थात् नव कमलों की तरह कोमल, सुन्दर, श्रेष्ठ, अत्यन्त सघन कान्ति से युक्त, सुर और असुरों द्वारा वन्दित, ऋषभ भगवान के चरणकमलों में नमस्कार है। ऋषभदेव की वन्दना के बाद स्वयम्भू मुनि, आचार्य, परमेष्ठी गुरु को नमन कर चौबीस तीर्थकरों की वन्दना करते हैं। इस स्तुति की एक विशेष शैली है। इसमें प्रत्येक पंक्ति की प्रथम अर्द्धाली में तीर्थकर को नामपूर्वक प्रणाम किया गया है तथा द्वितीय अर्द्धाली में तीर्थकर की विशेषता बताई गई है -

पणवेप्पिणु आइ भडाराहो । संसार समुहुत्ताराहो ॥

पणवेप्पिणु अजिय जिणेसरहो। दुज्जय कन्दप्प दप्पहरहो ॥1.1 ॥

अर्थ - संसाररूपी समुद्र से तारनेवाले आदि भट्टारक ऋषभजिन को प्रणाम करता हूँ। दुर्जेय काम का दर्प हरनेवाले अजित जिनेश्वर को प्रणाम करता हूँ।

तुलसीदास की तरह प्रत्येक काण्ड के प्रारंभ में ईश्वर की संस्तुति के रूप में मंगलाचरण स्वयम्भू ने नहीं दिये हैं। केवल चालीसवीं सन्धि के प्रारंभ में मुनिसुव्रत स्वामी की स्तुति की गई है। यहाँ पर सीताहरण के बाद का प्रसंग प्रारंभ होता है। इसमें पहले एक शब्द में मुनि का विशेषण देते हुए फिर उसकी व्याख्या की गई है -

असाहणं । कसाय-सोय-साहणं ।

अवाहणं । पमाय-माय-वाहणं ।

अवन्दणं । तिलोय-लोय-वन्दणं ।

अर्थ - जो साधनरहित हैं, कषाय और शोक का नाश करनेवाले हैं। जो (स्वयं) बाधा-रहित हैं (पर) प्रमाद और माया के बाधक हैं। जो दुष्टों से अवन्दनीय हैं और तीन लोक द्वारा वन्दनीय हैं।

यहाँ पर यमक का चमत्कार दिखाया गया है।

पच्चीसवीं सन्धि के आठवें कडवक में बीस तीर्थकरों की स्तुति की गई है। ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपाश्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ तथा मुनिसुव्रत इन बीस तीर्थकरों की स्तुति उनके नाम के अर्थ की विशेषता से जोड़ते हुए की गई है, जैसे -

जय संभव-संभव णिह्लण।25.8.3।

अर्थात् जन्म का नाश करनेवाले हे संभव, आपकी जय हो।

जय सुमइ भडारा सुमइ कर।25.8.4।

अर्थात् सुमति देनेवाले हे सुमति स्वामी, आपकी जय हो।

पउमचरिउ में जिनेन्द्र की स्तुति करनेवालों में रावण¹⁸, राम¹⁹, लक्ष्मण²⁰, सीता²¹, हनुमान²², इन्द्र²³, सुग्रीव²⁴ आदि प्रमुख हैं। ये सभी स्तुतियाँ जिनमन्दिर में जाकर जिनप्रतिमा के समक्ष की गई हैं। केवल चौदहवीं सन्धि में, रावण जलक्रीड़ा के उपरान्त नदी किनारे बालुका की वेदी बनाकर उस पर जिनप्रतिमा स्थापित कर 'जिनदेव' की स्तुति-पूजा करता है।²⁵ स्तुति से पूर्व विधि-विधानपूर्वक पूजा-अर्चा का भी उल्लेख किया गया है। स्तुति से पूर्व या बाद में तीन बार जिनप्रतिमा की प्रदक्षिणा करने का भी उल्लेख है।²⁶ 'जिन' की पूजा का उल्लेख पउमचरिउ में कई बार आता है। फल-फूल, दीप, नैवेद्य, घण्टा-ध्वनि, मणि-रत्न आदि भेंट से यह पूजा की जाती है। पूजा के बाद स्तुति प्रारंभ होती है। कहीं-कहीं स्तुति दी गई है, कहीं स्तुति का उल्लेख मात्र किया गया है। चौदहवीं सन्धि में रावण पहले जलक्रीड़ा करता है, तत्पश्चात् बालुका की वेदी बनाकर उस पर जिनप्रतिमा स्थापित कर जल, दूध, मणिरत्न, विलेपन, दीप, धूप, नैवेद्य, पुष्प आदि से पूजा करके फिर गायन प्रारंभ करता है।²⁷

इकहत्तरवीं सन्धि में भी रावण शान्तिनाथ की पूजा करता है। इस प्रसंग में कवि ने जिनालय का, जिनेन्द्र के अभिषेक का एवं पूजा का सुविस्तृत तथा अलंकृत वर्णन किया है। उदाहरण के लिए 'जिन' को नैवेद्य अर्पण करते हुए लिखता है - रावण ने नैवेद्य से पूजा की जो गंगा-प्रवाह की तरह दीर्घ, मुक्ता-समूह के समान स्वच्छ, सुन्दरी के समान सुमधुर, उत्तम अमृत रस के समान सुरभित, स्वजन के समान स्नेहिल, उत्तम तीर्थकर की तरह सिद्ध, सूरत के समान तिम्मण (स्त्री, पक्वान्न) से युक्त थी।²⁸ इस वर्णन में उपमा तथा श्लेष दोनों अलंकारों का प्रयोग किया गया है। पूजा के उपरान्त रावण दोधक, भुजंगप्रयात तथा नाराच छन्दों में 'जिन' की सुदीर्घ स्तुति करता है। यह पउमचरिउ में रची गई स्तुतियों में सबसे लम्बी स्तुति है।²⁹

स्तुतियों के सन्दर्भ में स्वयम्भू ने संगीतशास्त्र को भी जोड़ा है। बत्तीसवीं सन्धि में वन में भ्रमण करते हुए राम, लक्ष्मण और सीता कुलभूषण और देशभूषण मुनियों की पूजा करके मधुर गायन प्रारंभ करते हैं। इस अवसर पर राम सुघोष नाम की वीणा बजाते हैं, लक्ष्मण लक्षणों से युक्त गीत गाते हैं तथा सीता भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र में उल्लिखित नव रस, आठ भाव, दस दृष्टियों और बाईस लयों से युक्त ताल-विताल पर नृत्य करती हैं।³⁰ तेरहवीं सन्धि में बालि पर उपसर्ग करने के कारण रावण को पश्चात्ताप होता है। बलि से क्षमा माँगने के बाद रावण भरत द्वारा बनाये गये जिनालय में जाकर 'जिन भगवान' की पूजा करके वीणावादन करते हुए मधुर गन्धर्व गान गाता है जो मूर्छना, कम्प, क्रम, त्रिग्राम और सप्तस्वरों से युक्त था।³¹ इस प्रसंग में भी पूजा-अर्चा तथा गन्धर्व गायन का वर्णन अलंकृत शैली में किया गया है।

सामान्यतः भगवान की स्तुति करते हुए भक्त ईश्वर के गुणगान के साथ-साथ अपने लिए भी कुछ न कुछ याचना करता है। पउमचरिउ में आई हुई स्तुतियों में भक्त की लौकिक

वांछाओं का/मनोकामनाओं का उल्लेख बहुत कम हुआ है। ऋषभदेव के जन्म के उपरान्त इन्द्र द्वारा उनके अभिषेक के बाद स्तुति की गई है उसमें उन्हें मनोरथ पूर्ण करनेवाला कहा गया है तथा उनसे याचना की गई है कि जन्म-जन्म में हमें गुणों की सम्पत्ति दें।³² लक्ष्मण द्वारा जब सुग्रीव को सीता की खोज करने का आदेश दिया जाता है तो सुग्रीव कार्य-सिद्धि की कामना से जिनमन्दिर में जाकर जिनस्वामी की स्तुति करता है और स्तुति के बाद प्रतिज्ञा करता है कि यदि मैं सीतादेवी का वृतान्त न लाऊँ तो मेरी गति संन्यास की हो (अर्थात् मैं संन्यास ग्रहण करूँगा)।³³

स्तुतिकार्य में प्रायः आराध्य के सौन्दर्य-वर्णन की परम्परा मिलती है। पउमचरिउ में स्तुतियों के अन्तर्गत जिनदेव के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन बहुत अधिक नहीं मिलता। मुनिसुव्रत स्वामी को सुन्दर मेघ, अलि, भ्रमर तथा केश के समान रंगवाला कहा गया है।³⁴ ऋषभदेव को नमस्कार करते हुए उन्हें कमल के समान कोमल, मनोहर तथा कान्तियुक्त कहा गया है।³⁵ इन्द्र की जिनेन्द्र के रूप पर आसक्ति के माध्यम से भी अप्रत्यक्ष रूप से उनके सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। कवि कहता है कि 'जिन' के रूप पर आसक्त इन्द्र के नेत्र तृप्ति नहीं पा रहे हैं।³⁶ हिन्दू देवताओं की स्तुतियों में जिस प्रकार आराध्यदेव के जीवन-प्रसंगों तथा दुष्ट संहारक के रूप में किये गये कार्यों का उल्लेख होता है, वह भी पउमचरिउ की स्तुतियों में नहीं मिलता।

जैन धर्म में आत्मा का परिष्कार, आत्मा को शुद्ध-मुक्त करना सर्वोपरि मूल्य है। जैनधर्म आत्मवादी है और आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता एवं स्वावलम्बन ही इसका चरम लक्ष्य है जिसके लिए आत्मशोधन की प्रक्रिया आवश्यक है।³⁷ संभवतः यही कारण है कि 'जिन' की स्तुतियों में उनके संसार से विरक्त, काम-क्रोध मोह को जीतनेवाले, केवलज्ञान से युक्त, जन्म-मरण से विवर्जित रूप का बखान बार-बार किया गया है।³⁸ इनमें से कई विशेषण जैन धर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप हैं, जैसे - पंच महाव्रतों को धारण करनेवाला, चार कषायों का नाश करनेवाला, छह प्रकार के जीव निकायों के प्रति शान्ति रखनेवाला, सातों नरकों को जीतनेवाला आदि-आदि³⁹।

जय खम दम तव वय णियम करण। जय कलि मल कोह कसाय हरण।

जय काम कोह अरि दप्प दलण। जय जाइ जरा मरणन्ति हरण।⁴⁰

तो कई विशेषण ऐसे भी हैं जो किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के आराध्यदेव के लिए आरोपित किये जा सकते हैं। जैसे -

त्रिभुवन के स्वामी (1.9.3), तीनों लोकों के परमेश्वर, त्रिभुवन के मनोरथ पूर्ण करनेवाला, देव-असुरों के द्वारा प्रदक्षिणा किया हुआ, विश्वगुरु⁴¹ आदि विशेषण 'जिन' को सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। एक-दो स्थलों पर स्वयंभू ने 'जिन' को माता-पिता, गुरु, बहिन, भाई, मित्र, सहायक आदि सम्बोधनों से भी पुकारा है।⁴² देवेन्द्रकुमार जैन इसे स्वयंभू का भावातिरेक मानते हैं। 'जिन' को निरंजन, निरपेक्ष, सर्वज्ञ, परात्पर जैसे विशेषणों से भी सम्बोधित किया गया है जो निर्गुण ब्रह्म की परिकल्पना के सन्निकट है।

एक महत्वपूर्ण बात इन स्तुतियों के संदर्भ में यह भी कही जा सकती है कि इनमें इस बात का महत्व नहीं है कि कौन किसकी स्तुति कर रहा है। जिन तीर्थंकरों की स्तुति की गई है उनमें चारित्रिक भिन्नता नहीं है, वे प्रायः गुणों में एक-से हैं। हनुमान या शिव या राम की तरह उनके गुणों और आचरण में भिन्नता नहीं है। न ही स्तुतिकर्ता के अनुसार कोई भिन्नता दिखाई देती है। स्तुतिकर्ता चाहे राम हो या रावण या सुग्रीव; निष्ठा, जिनदेव के विशेषण, स्तुतियों की भाषा-शैली आदि पर कोई प्रभाव पड़ता हुआ नहीं दिखाई देता।

काव्यात्मकता की दृष्टि से ये स्तुतिपरक प्रसंग स्वयम्भू की काव्यकला का श्रेष्ठ उदाहरण कहे जा सकते हैं। इन स्तुतियों में लयात्मकता का निर्वाह है। ये सभी स्तुतियाँ गेय हैं। 86वीं सन्धि में हनुमान के द्वारा की गई स्तुति इस दृष्टि से उदाहरणीय है -

जय जय जिणवरिन्द धरणिन्द णरिन्द सुरिन्द वन्दिया ।
 जय जय चन्द खन्द वर विन्तर वहु विन्दाहिणन्दिया ।
 जय जय वंभ संभु मण भंजय मयरद्वय विणासणा ।
 जय जय सयल समगग दुब्भेय वयासिव चारु सासणा । 86.15।

अलंकारों का प्रचुर प्रयोग इन स्तुतियों में किया गया है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, यमक, श्लेष का अधिक प्रयोग मिलता है। 'जिन' की स्तुति करते हुए कवि उन्हें सिद्धिरूपी वरांगना के अत्यन्त प्रिय, संयमरूपी गिरिशिखर पर उगनेवाले, सात महाभयरूपी अश्वों का दमन करनेवाला, ज्ञानरूपी आकाश में विचरण करनेवाला सूर्य कहता है।⁴³ रावण द्वारा शान्तिनाथ की पूजा के प्रसंग में प्रत्येक अर्द्धाली में उपमा तथा श्लेष का साथ-साथ प्रयोग किया गया है।⁴⁴ निस्संदेह यह कवि का काव्य-कौशल है। परन्तु कहीं-कहीं अलंकृत शैली भक्ति-भाव की अभिव्यक्ति में बाधक भी प्रतीत होने लगती है। 40वीं सन्धि के प्रारंभ में मुनिसुव्रतनाथ की वन्दना में यमक का प्रयोग इसी प्रकार का है। इसी प्रकार श्लेष अलंकार के प्रदर्शन के लिए ईश्वर की स्तुति में गाये गये गीत की तुलना प्रिय स्त्री तथा सुरत तत्व से करना बहुत उचित नहीं कहा जा सकता।⁴⁵ परन्तु स्वयम्भू की काव्य-प्रतिभा के ये सहज उद्गार हैं, इसमें सन्देह नहीं। भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग इनमें किया गया है जो कि अपभ्रंश काव्य की एक प्रमुख विशेषता है। समास-बहुल शैली का प्रयोग भी कहीं-कहीं स्तुतियों में किया गया है। जहाँ यमक व श्लेष का साथ-साथ प्रयोग है वहाँ शैली क्लिष्ट है, अन्यथा सरल, सहज शैली का प्रयोग इन स्तुतियों में किया गया है।

1. अपभ्रंश भाषा की शोध प्रवृत्तियाँ, डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृ. 58-60
2. शब्दाथौ सहितौ काव्य गद्य-पद्य च तद्द्विधा।
 संस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा। काव्यालंकार 1.16

3. जैन तथा उपाध्ये, पउमचरिउ, भाग 5 की भूमिका, पृ. 11
4. अपभ्रंश के आदिकवि स्वयम्भू, त्रिलोकीनाथ प्रेमी, अपभ्रंश भारती-1, पृ.1, जनवरी,1990
5. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, वीरेन्द्र श्रीवास्तव, पृ. 16
6. पायडमि अप्पु रामायण कावे। पउमचरिउ, 1.1.19
7. पउमचरिउ और रामकथा परम्परा, मधुबाला नयाल, अपभ्रंश भारती 5-6, पृ. 13, 1994
8. अपभ्रंश के आदिकवि स्वयम्भू, त्रिलोकीनाथ प्रेमी, अपभ्रंश भारती-1, पृ. 3
9. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, डॉ. रामसिंह तोमर, प्रकाशक - हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, पृ. 67
10. महाकवि पुष्पदन्त, राजनारायण पाण्डेय, पृ. 126
11. उक्त, पृ. 135
12. पाउडदोहा, प्रस्तावना, देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृ. 3
13. पउमचरिउ, 1.10.3
14. अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा में पउमचरिउ, मंजु शुक्ल, अपभ्रंश भारती-9-10, पृ. 21 अक्टूबर 1997-98
15.
 - जय इन्द गरिन्द चन्द णमिय। प.च. 23.10.7
 - त णागेन्द सुरेन्द गरिन्दहि। वन्दिउ मुणि विज्जाहर विन्दहि। प.च. 25.7.7
 - तिलोय लोय वदण। प.च. 40.1.4
 - सुरिंद राय पुज्जण। प.च. 40.1.5
 - जय तियसिद विद वंदिय पय। प.च. 2.6.7
16. पज्जुणचरिउ, प्रस्तावना, विद्यावती जैन, पृ. 20
17. पउमचरिउ, प्रारंभ
18. पउमचरिउ, 71.11
19. पउमचरिउ, 32.7, 23.10, 43.19
20. पउमचरिउ, 32.7, 23.10
21. पउमचरिउ, 32.7, 23.10
22. पउमचरिउ, 86.15
23. पउमचरिउ, 2.6
24. पउमचरिउ, 44.5
25. पउमचरिउ, 71.11
26. पयहिण देवि तिवार पुणु चलियउ वण वासहो। 23.10.13
 - त जिण भवणु णियवि परितुट्टइं। पयहिण दवि तिवार वइड्डइ। 25.7.5

27. तुप्पखीर सिस्सिरेहिं अहिसिंचेवि । णाणा विह मणिरयणेहि अंचेवि ।
णाणा विहहिं विलेवण भेसहिं । दीव धूव वलि पुप्फ णिवेएहिं ।
पुज्ज करेवि किर गायइ जावेहिं । पउमचरिउ, 14.9
28. पच्छा चरुएण मणोहरेण । गंगावाहेण व दीहरेण ।
मुत्ता णियरेण व पण्डुरेण । सुकलत्त मुहेण व सुमहुरेण ।
वरअमियरसेण व सुरहिएण । सुअणेण व सुहु सहेणिएण ।
तित्थयर वरेम व सिद्धएण । सुरएण व तिममण सिद्धएण । पउमचरिउ, 71.10
29. पउमचरिउ, 71.11
30. राम सुषोस वीण अप्फालइ । जा मुणियवरहु वि चितइ चालइ ।
लक्खणु गाइ सलक्खणु गेउ । सत्त वि सर तिगाम सर भेउ ।
ताल वित्ताल पणच्चइ जाणइ । णव रस अट्ट भाव जा जाणइ ।
दस दिट्ठिउ वावीस लयाइं । भरह भरह गविट्ठइ जाइ । पउमचरिउ, 32.8
31. त पुज्ज करेवि आढत्तु गेउ । मुच्छण कम कम्प तिगाम भेउ ।
सर सज्ज रिसह गन्धार बाहु । मज्झिम पंचम धइवय णिसाहु ।
महुरेण थिरेण पलोट्टेण । जण वसियरण समत्थएण ।
गायइ गधच्चु मणोहरु रावणु रावण हत्थएण । पउमचरिउ, 13.9
32. जग गुरु पुण्ण पवित्तु तिहहुअणहो मणोरह गारा ।
भवे भवे अम्हे देज्ज जिण-गुण-सम्पत्ति भडारा । पउमचरिउ, 2.8.10
33. पउमचरिउ, 44.5
34. रवण्णय । घणालि वार वण्णय । 40.1.10
35. णमह णव कमल कोमल वर वहल कति सोहिल्ल, पउम प्रारंभ
36. रूवालोयणे रूवासत्तइं । तित्ति ण जंति पुरन्दर णेत्तइं 2.7.2
37. जम्बूसामिचरिउ के वैराग्य प्रसंग, सुश्री प्रीति जैन, जैनविद्या-5-6 (वीर विशेषांक),
प्र. जैनविद्या संस्थान, जयपुर, अप्रैल 1997, पृ. 97
38. पउमचरिउ 32.7, 23.10, 45.5
39. पउमचरिउ 32.7
40. पउमचरिउ 23.10
41. पउमचरिउ, 2.6
42. तुहुं गइ मइ जणेरु सस मायारि भायारि सुहि सहायओ । पउमचरिउ 86.15.8
● तुहु माय बप्पु तुहु बंधु जणु । पउमचरिउ 43.19
43. जय संजम गिरि सिहरुग मिय । जय इद णरिद चद णमिय
जय सत्त महाभय हय दमण । जय जिण रवि णाणम्बर गमण । पउमचरिउ 23.10.7-8

44. पउमचरिउ 71.10

45. सालंकारु सुसरु सुवियङ्ग सुहावउ पिय कलतु व।

आरोहि अधरोहि थाइय संचारिहि सुरय ततु व। पउमचरिउ 13.10.1

आचार्य, हिन्दी विभाग
डी.एस.बी. परिसर
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

□ □ □

सोहड़ हलहरजत्थहिं

करिमयरमीणजलयरवमालि	चललवणजलहिवलयंतरालि।
दोचंदसूरपयडियपईवि	जंबूतरुलंछणि जंबुदीवि।
खारंभोणिहिसामीवसंगि	सुरसिहरिहि संठिउ दाहिणंगि।
सरिगिरिदरितरुपुरवरविचित्तु	एत्थत्थि पसिद्धउ भरहखेतु।
तहु मज्झि परिट्टिउ मगहदेसु	जं वण्णहुं सक्कइ पोय सेसु।
मुहि घुलइ जासु जीहासहासु	जसु णाणि णत्थि दोसावयासु।
घत्ता - सीमारामासामहिं	पविउलगामहिं गज्जंतहिं धवलोहहिं॥

सोहड़ हलहरजत्थहिं दाणसमत्थहिं णिच्चं चिय णिल्लोहहिं॥11॥

महाकवि पुष्पदन्त, महापुराण, 1.11

- जलगजों, मगरों, मत्स्यों और जलचरों के कोलाहल से व्याप्त चंचल लवण समुद्र के वलय में स्थित, दो-दो सूर्यों और चन्द्रों से आलोकित होनेवाले तथा जम्बुवृक्षों से शोभित जम्बूद्वीप है। उसमें सुमेरु पर्वत के, लवण समुद्र की समीपता करनेवाले दक्षिण भाग में प्रसिद्ध भरत क्षेत्र है, जो नदियों, पहाड़ों, घाटियों, वृक्षों और नगरों से विचित्र है। उसके मध्य में मगध देश प्रतिष्ठित है, शेषनाग भी उसका वर्णन नहीं कर सकता, यद्यपि उसके मुँह में हजार जीभें चलती हैं, और उसके ज्ञान में दोष के लिए जरा भी गुंजायश नहीं है।

घत्ता - वह मगध देश, सीमाओं और उद्यानों से हरे-भरे बड़े-बड़े गाँवों, गरजते हुए वृषभ समूहों, और दान देने में समर्थ लोभ से रहित कृषक समूहों से नित्य शोभित रहता है॥11॥

अनुवादक - डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

अपभ्रंश साहित्य के कवि : स्वयंभू और पुष्पदंत

- श्री अनिलकुमार सिंह 'सेंगर'



प्रारंभ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग उस अर्थ में होता था जो भाषा के स्तर में गिरा होता था। आरंभ में संस्कृत के भर्तृहरि, पतंजलि ने संस्कृत के विकृत शब्द रूप के लिए 'अपभ्रंश' का प्रयोग किया था इसलिए अपभ्रंश का अर्थ किया गया - भ्रष्ट, विकृत अथवा अशुद्ध। किन्तु धीरे-धीरे इसका विस्तार भाषा विशेष के लिए होने लगा। संस्कृत के आचार्यों और अपभ्रंश के कवियों ने अपभ्रंश को देशी भाषा कहा है। किन्तु अपभ्रंश कवि स्वयंभू और पुष्पदंत ने अपनी भाषा को 'ग्रामीण भाषा' कहा है। आठवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक जो भाषा साहित्य के क्षेत्र में छाई हुई थी उसे हम 'अपभ्रंश' के रूप में जानते हैं। केवल दक्षिण को छोड़कर पूरे भारत में इस काल में अपभ्रंश में काव्यों की रचना हुई है। जिन कवियों ने इस भाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की है उनमें स्वयंभू और पुष्पदंत का नाम प्रमुख है। स्वयंभू की 'रामायण' और पुष्पदंत का 'महापुराण' भारतीय साहित्य के अनुपम ग्रंथ हैं। इनके अलावा जोइन्दु, रामसिंह, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, राजशेखर, शालिभद्र, अब्दुल रहमान, सरह और कण्ह आदि कवि हैं। इन कवियों ने चरित काव्य, गीतिकाव्य, विरह काव्य, रहस्यप्रधान कविता तथा कथा काव्य लिखे हैं।

भामह पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपभ्रंश का 'साहित्यिक भाषा' के रूप में उल्लेख किया है। इसके बाद दंडी ने पतंजलि और भामह दोनों के मतों का समावेश किया। अपभ्रंश को साहित्य

की भाषा बताते हुए उन्होंने कहा है कि अपभ्रंश आभीरादि की भाषा है और शास्त्रानुसार संस्कृत के अतिरिक्त सभी भाषाएँ अपभ्रंश हैं। राजशेखर ने अपनी रचनाओं में अपभ्रंश के संबंध में जो उल्लेख किया है उससे यही ज्ञात होता है कि उनके समय में अपभ्रंश पतित न समझी जाकर अभिजात्य वर्ग की भाषा बनी तथा विद्वानों में भी आदर पाने लगी। जगह-जगह पर राजशेखर ने अपभ्रंश की प्रशंसा की है और 'बाल रामायण' में अपभ्रंश काव्य को 'सुभण्य' भी कहा है। भरतमुनि (विक्रम तीसरी शताब्दी) ने अपभ्रंश नाम न देकर लोकभाषा को 'देश भाषा' कहा है।

अपभ्रंश में स्वयंभू का 'पउमचरिउ' (पउम-चरित) और 'हरिवंशपुराण', पुष्पदंत का 'महापुराण', यशकीर्ति का पांडवपुराण और रङ्गू का 'पद्मपुराण' और 'हरिवंशपुराण' उल्लेखनीय हैं। इन पुराणों में 'रामकथा' और 'कृष्णकथा' काव्य भी है।

कवि स्वयंभू

स्वयंभू का 'पउमचरिउ' एक महत्वपूर्ण रचना है। यह रचना रामकथा पर आधारित है। 'पउमचरिउ' को स्वयंभू पूरा नहीं कर सके, इसे उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू ने पूरा किया। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्यधारा' में इसके एक अंश को प्रकाशित किया है। कवि स्वयंभू ने राम और कृष्ण से संबंधित चरित काव्यों का विस्तार और विकास किया। उन्होंने राम को लेकर 'पउमचरिउ' और कृष्ण को लेकर 'रिट्ठणेमिचरिउ' चरितकाव्य की रचना की। कवि स्वयंभू की निम्नलिखित रचनाएँ हैं - पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, स्वयंभू छंद आदि। कवि स्वयंभू को प्रसिद्धि पउमचरिउ (राम-काव्य) से ही मिली।

पउमचरिउ पाँच काण्ड और तिरासी संधियों (संगों) वाला एक विशाल महाकाव्य है। इसके पाँच काण्ड इस प्रकार हैं - विज्जाहरकाण्ड, उज्झाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, जुज्झकाण्ड और उत्तरकाण्ड।

'पउमचरिउ' में रामकथा को एक नदी का रूपक दिया गया है। कवि स्वयंभू का कथन है कि वर्द्धमान महावीर के मुख-कुहर से निकलकर यह रामकथारूपी सरिता क्रमागत रूप से बहती चली आ रही है।

बद्धमाण्ण-मुह-कुहर विणिग्गय ।

रामकथा-णई एह कमागय ।

रामकथा को लेकर अनेक चर्चाओं में स्वयंभू की अपनी रामायण कम रोचक नहीं है जहाँ तमाम मौलिक उद्भावनाएँ देखने को मिलती हैं।

कवि स्वयंभू रामकाव्य लिखने के पहले स्पष्ट शब्दों में अपने मत को इस प्रकार से प्रकट करते हैं - मैं जनता की भाषा में जनता के लिए काव्य का निर्माण कर रहा हूँ। राम का चरित्रांकन

करते समय न तो उन्होंने आदर्श का दामन पकड़ा है और न ही उसमें किसी प्रकार की अलौकिकता का समावेश किया है। उन्होंने राम को साधारण मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया है। तुलसी के राम और स्वयंभू के राम में अन्तर है। तुलसी के राम भगवान हैं, पूज्य हैं, जबकि स्वयंभू के राम साधारण मनुष्य हैं जो सीता को पाने के लिए रोते हैं। रोते तो तुलसी के राम भी साधारणजन की तरह ही हैं पर एक अभिनय की तरह। रावण जैसे पराक्रमी राजा से संघर्ष कर उसे वापस लाते हैं।

जब सीता वापस आती है तो राम उसे संदेह की नजर से देखते हैं। उसे अग्नि-परीक्षा के लिए विवश करते हैं। अग्नि-परीक्षा के लिए वरासन पर बैठती है। राम सीता को और सीता राम को देखती है। राम व्यंग्य से मुस्कराते हैं और सोचते हैं कि इसे कैसे स्वीकार किया जाए जो इतने समय तक दूसरे पुरुष के अधीन थी। राम धिक्कारते हुए कहते हैं कि नारी अशुद्ध होती है, निर्लज्ज होती है और मलिनमति होती है -

कंतहि तणिय कंति पक्खप्पिणु
पभण्ड पोमणाहु बिहसेप्पिणु
जइ वि कुलगयाउ णिरवज्जउ
महिलउ होंति सुट्टु णिलज्जउ। 83.8।

इस महाकाव्य में वन-वर्णन, जलविहार-वर्णन, सूर्योदय-सूर्यास्त-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि का भी वर्णन है।

स्वयंभू ने अपनी रचनाओं में गंधोकधारा, द्विपदी, हेला-मंजरी, जंभेटिया, वदनक, पाराणक, मदनावतार, विलासिनी, प्रमाणिका समानिका आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है। कवि स्वयंभू की सम्पन्नता को देखकर उन्हें 'छंदश चूड़ामणि', 'कविराज चक्रवर्ती' से विभूषित किया गया है।

कवि स्वयंभू का 'पउमचरिउ' विलाप एवं युद्ध-वर्णन के लिए प्रसिद्ध है, दशरथ-विलाप, राम-विलाप, भरत-विलाप, रावण-विलाप, नारी-विलाप आदि का चित्रण हुआ है।

अन्ततः हम कह सकते हैं कि कवि स्वयंभू ने अपने जीवनकाल के सभी क्षेत्रों में गहरी पैठ जमायी है। कथा कहने की शैली तथा कवित्व शक्ति 'पउम चरिउ' में दिखाई पड़ती है। उनकी भाषा की स्वभाविकता, प्रवाहमयी लोक-प्रचलित भाषा भी दिखाई पड़ती है। उनकी रचनाओं में संगीत-कला आदि का गहरा अध्ययन दिखाई पड़ता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण उन्हें 'अपभ्रंश भाषा का वाल्मीकि' कहा जाता है।

कवि पुष्पदंत

पुष्पदंत बरार के रहनेवाले थे। वे ब्राह्मण थे। उनका समय 10वीं शताब्दी के आस-पास माना जाता है। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय राष्ट्रकूट की राजधानी मान्यखेट में बिताया। पुष्पदंत की प्रसिद्धि का आधार उनकी रचना 'महापुराण' है। इसमें उन्होंने राम-कथा, कृष्ण-कथा और जैन-तीर्थकरों के जीवन-चरित को शामिल किया है। कुछ आलोचकों का कहना है कि वाल्मिकी-व्यास की रामकथा-परंपरा के समानान्तर एक और दूसरी परंपरा थी। यह परंपरा गुणभद्र के उत्तर रामायण में पायी जाती है। पुष्पदंत की निम्नलिखित रचनाएँ हैं - महापुराण, जसहरचरित और णायकुमारचरित।

पुष्पदंत का काव्य रामकाव्य नहीं हो सका। पर कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन उन्होंने बड़ी कुशलतापूर्वक किया है। पुष्पदंत के कृष्ण बहुत ही नटखट हैं -

धूलि धूसरेण वरमुक्कसरेण तिणा मुरारिणा ।
 कीलारसवसेण गोवालय गोवी हियय-हारिणा ।
 रंगतेण रमंतरमंतें मंथउ धरिउ भमंत अणंतें ।
 मंदीरउ तोडिवि आवट्टिउं अद्ध-विरोलिउं दहिउं पलोट्टिउं ।
 का वि गोवि गोविंदहु लग्गी एण महारी मंथणि भग्गी । 85.6 ।

- धूल से सना हुआ वह मुरारी ब्रज की गोपियों के हृदय में रहनेवाला है। वह क्रीड़ा करता है और गोपियाँ उसकी क्रीड़ा देख-देखकर मुग्ध होती हैं। आँगन में कृष्ण दौड़ा फिर रहा है, कभी मथनी को लेकर दौड़ता है तो कभी दही की हाँडी तोड़ देता है, कभी दही पलट देता है। गोपियाँ कृष्ण की इस क्रीड़ा से नाराज नहीं होतीं, बल्कि इससे उन्हें सुख मिलता है।

काव्यों की उदात्त शैली, अलंकार-योजना एवं छंद-कौशल आदि गुण पुष्पदंत को श्रेष्ठ महाकवियों की श्रेणी में ले आता है। उपमा, रूपक, व्यक्तिकेक, भ्रान्तिमान, यमक और श्लेष के प्रयोग बड़े ही चित्ताकर्षक हैं। लोकोक्तियों ने भाषा को आकर्षक बना दिया है।

हम देखते हैं कि स्वयंभू और पुष्पदंत अपभ्रंश के प्रमुख कवि हैं। उन्होंने अपभ्रंश भाषा को साहित्यिक गरिमा प्रदान की है। प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह के शब्दों में - 'इस तरह स्वयंभू और पुष्पदंत दोनों ही कवि अपभ्रंश-साहित्य के सिरमौर हैं। यदि स्वयंभू में भावों का सहज सौन्दर्य है तो पुष्पदंत में बंकिम भंगिमा है, स्वयंभू की भाषा में प्रच्छन्न प्रवाह है तो पुष्पदंत की भाषा में अर्थगौरव की अलंकृत झाँकी। एक सादगी का अवतार है तो दूसरा अलंकरण का उदाहरण है।' अन्त में डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी के शब्दों में कहा जा सकता है - "दरअसल साहित्य की दूसरी परम्परा का सूत्र या बीज अगर कहीं देखना हो तो संस्कृत से हटकर अपभ्रंश भाषा के इन

कवियों की रचनाओं में देखा-जाना चाहिए। जिन्होंने साहित्य को सचमुच कूप से बाहर लाने की कोशिश की तथा व्यवहार के धरातल पर मौलिक उद्भावना की शक्ति का बीजारोपण सामान्य जन में किया।”

1. काव्यदर्श - दंडी
2. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ. बच्चन सिंह
3. हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास - डॉ. मोहन अवस्थी
4. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग - डॉ. नामवर सिंह

वरिष्ठ शोध छात्र
हिन्दी भवन
विश्वभारती, शांतिनिकेतन
731235 (प. बंगाल)
मो. 09832277110



कुसुमियफलियङं णंदणवणाङं

अंकुरियङं णवपल्लवघणाङं
 जहिं कोइलु हिंडइ कसणपिंडु
 जहिं उड्डिय भमरावलि विहाइ
 ओयरिय सरोवरि हंसपंति
 जहिं सलिलइं मारुयपेल्लियाइं
 जहिं कमलहं लच्छिइ सहं सणेहु
 किर दो वि ताइं महणुब्भवाइं
 जहिं उच्छुवणइं रसगब्भिणाइं
 जुज्झंतमहिसवसहुच्छवाइं
 चवलुद्धपुच्छवच्छाउलाइं
 जहिं चउरंगुल कोमलतणाइं
 घत्ता - तहिं छुहधवलियमंदिरु णयणाणंदिरु णयरु रायगिहु रिद्धउ॥

कुसुमियफलियङं णंदणवणाङं।
 वणलच्छिहे णं कज्जलकरंडु।
 पवरिंदणीलमेहलिय णाइ।
 चल धवल णाइं सप्पुरिसकित्ति।
 रविसोसभएण व हल्लियाइं।
 सहं ससहरेण वड्डु विरोहु।
 जाणंति ण तं जडसंभवाइं।
 णावइ कव्वइं सुकइहिं तणाइं।
 मंथामंथियमंथणिरवाइं।
 कीलियगोवालइं गोउलाइं।
 घणकणकणिसालइं करिसणाइं।

महाकवि पुष्पदंत, महापुराण, 1.12

जिसमें अंकुरित, नये पत्तों से सघन फूलों और फलोंवाले नन्दनवन हैं। जिसमें काले शरीरवाला कोकिल घूमता है मानो जो वनलक्ष्मी के काजल का पिटारा हो, जहाँ उड़ती हुई भौरों की कतार ऐसी शोभित होती है जैसे इन्द्रनील मणियों की विशाल मेखला हो। सरोवरों में उतरी हुई हंसों की कतार ऐसी मालूम होती है जैसे सज्जन पुरुष की चलती-फिरती चंचल कीर्ति हो। जहाँ हवा से प्रेरित जल ऐसे मालूम होते हैं जैसे सूर्य के शोषण के डर से काँप रहे हों। जहाँ कमल लक्ष्मी से स्नेह करते हैं लेकिन चन्द्रमा के साथ उनका बड़ा विरोध है। यद्यपि दोनों समुद्रमन्थन से उत्पन्न हुए हैं लेकिन जड़ (जड़ता और जल) से पैदा होने के कारण वे इस बात को नहीं जानते। जहाँ ईर्ष्यों के खेत रस से परिपूर्ण हैं, मानो जैसे कुकवियों के काव्य हों। जहाँ लड़ते हुए भैंसों और बैलों के उत्सव होते रहते हैं, जहाँ मथानी घुमाती हुई गोपियों की ध्वनियाँ होती रहती हैं, जहाँ चंचल पूँछ उठाये हुए बच्छों का कुल है, और खेलते हुए ग्वालवालों से युक्त गोकुल है। जहाँ चार-चार अंगुल के कोमल तृण हैं और सघन दानों वाले धान्यों से भरपूर खेत हैं।

घत्ता - उस मगध देश में चूने के धवल भवनों वाला नेत्रों के लिए आनन्ददायक राजगृह नाम का समृद्ध नगर है।

अनुवादक - डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

साधारण सिद्धसेनसूरि-रचित 'विलासवई-कहा'

(विलासवती कथा)

- श्री वेदप्रकाश गर्ग



हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की पृष्ठभूमि का निर्माण प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं की साहित्यिक रचनाओं में हो गया था। यह परम्परा उसे रिक्त रूप में उक्त भाषाओं की कृतियों से प्राप्त हुई, क्योंकि दोनों ही भाषाओं में इस प्रकार की रचनाएँ पहले ही लिखी जा चुकी थीं। वर्ण्य-विषय, शैली, छंद तथा प्राकृत-अपभ्रंश काव्यों के प्रबंध-शिल्प के अनुरूप जो प्रेमाख्यानक काव्य रचे गए, उनका मूल-स्रोत उक्त काव्यसाहित्य ही है। अपभ्रंश में रचित प्रेमाख्यानक काव्यों की जो परम्परा मिलती है, वह भी प्राकृत के प्रेमाख्यानक काव्यों से विकसित हुई है।

जन-जीवन में प्रचलित रहनेवाली लोक-कथाओं को अपनाकर लिखे जानेवाले काव्य तत्कालीन साहित्य के विशिष्ट अंग रहे हैं। उस युग की प्रेमकाव्य परम्परा के अनुरूप ही लिखी जानेवाली अपभ्रंश की एक रचना 'विलासवई-कहा' (विलासवती कथा) है, जो विषय-वस्तु, शैली एवं प्रबंध-रचना की दृष्टि से प्रेमाख्यानक काव्य-परंपरा की एक कड़ी विशेष है। प्रस्तुत लेख में अपभ्रंश के इसी प्रेमाख्यानक काव्य के संबंध में परिचयात्मक रूप से लिखा जा रहा है।

'विलासवई-कहा' (विलासवती कथा) नामक इस कथा-काव्य का सर्वप्रथम परिचय पं. बेचरदासजी दोशी ने 'भारतीय विद्या पत्रिका' में दिया था। तदनन्तर सन् 1956 में डॉ. शम्भूनाथ सिंह ने 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास' नामक अपने शोध-प्रबंध में इसका

अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया था। श्री अगरचन्द नाहटा प्रभृति विद्वानों ने भी अपने लेखों के माध्यम से यदा-कदा इसकी चर्चा की है। इस कथा की दो ताड़पत्र-प्रतियाँ जैसलमेर के ग्रंथ-भंडार में सुरक्षित हैं। संभव है, अन्यत्र भी इसकी प्रतियाँ हों।

विलासवती कथा के लेखक श्वेताम्बर जैन साधु सिद्धसेनसूरि थे। उनका गृहस्थ जीवन का नाम 'साधारण' था। इसलिए उन्हें 'साधारण सिद्धसेनसूरि' कहा जाता है। जैन-साहित्य में सिद्धसेन नामक चार विद्वान आचार्य हुए हैं। पहले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर थे, दूसरे सिद्धसेन, तीसरे साधारण सिद्धसेन और चौथे सिद्धसेन सूरि। साधारण सिद्धसेन 'न्यायावतार' तथा 'सम्मति-तर्क' के रचयिताओं से अलग थे। इस प्रकार साधारण सिद्धसेन दार्शनिक सिद्धसेन सूरि से भिन्न थे। उनकी प्रसिद्धि केवल साहित्यिक रूप में मिलती है। कवि ने अनेक स्तुति, स्तोत्र, स्तवन आदि भी लिखे हैं, जिनमें से कुछ अब उपलब्ध नहीं हैं।

कवि सिद्धसेन मूल कुल के वाणिज्य तथा कौटिकगण वज्र शाखा में बप्पभट्टि सूरि की परम्परा के अन्तर्गत यशोभद्र सूरि गच्छ के विद्वान थे। कवि काव्यकला-मर्मज्ञ कवियों के वंश में उत्पन्न हुआ था। उसकी प्रसिद्धि साधारण नाम से अधिक थी। यद्यपि काव्य-रचना में निपुण कवि की ख्याति उसके साधु-दीक्षा लेने के पूर्व ही फैल चुकी थी, किंतु 'विलासवती कहा' की रचना उसने मुनि बन जाने के बाद की थी। यह कथा-काव्य मीनमाल कुल के श्रेष्ठी लक्ष्मीकर शाह के अनुरोध से लिखा गया था। रचनाकार गुजरात के ही किसी भाग का निवासी था।

इस प्रेमाख्यानक कथा-काव्य की रचना पौष चतुर्दशी सोमवार को वि.सं. 1123 में गुजरात के धन्धुका नामक नगर में हुई थी।¹ संधि-बद्ध यह काव्य-ग्रंथ 3620 श्लोकप्रमाण है। इसमें ग्यारह संधियाँ हैं। पहली सन्धि में सनत्कुमार एवं विलासवती का समागम, दूसरी में विनयंवर की सहायता, तीसरी में समुद्र-प्रवास में नौका भंग, चौथी में विद्याधरी-संयोग, पाँचवीं में विवाह-वियोग, छठी में विद्या-साधना एवं सिद्धि, सातवीं में दुर्मुखवध, आठवीं में अनंग-रति विजय और राज्याभिषेक, नवीं में विनयंवर-संयोग, दसवीं में परिवार-मिलन तथा ग्यारहवीं में सनत्कुमार व विलासवती के निर्वाण-गमन का वर्णन हुआ है। इस प्रकार इस कथा-काव्य में विलासवती एवं सनत्कुमार की कथा अत्यन्त रोचक शैली में निबद्ध है। रचयिता ने इस कथा को आचार्य हरिभद्रसूरि कृत 'समराइच्च कहा' के आधार पर लिखी है।² यह कथा उससे ज्यों की त्यों ली गई है, इसलिए कथा में कवि की कोई मौलिक उद्भावना नहीं दिखलाई पड़ती है, किंतु कथा का वियोग-वर्णन उसकी मौलिक कल्पना है। काव्य में ऐसे कई सुंदर चित्र हैं जो बिम्बाधारित सौन्दर्यबोध से युक्त हैं। प्रत्येक संधि में अलग-अलग स्थलों पर कवि ने प्रकृति-चित्रण के द्वारा मानव के आन्तरिक भावों को अभिव्यक्त किया है और इसी रूप में अनेक कार्य-व्यापारों का सुंदर चित्र अंकित किया है। साथ ही विभिन्न प्रसंगों में कवि ने मन की दशाओं का विशेष चित्रण किया है और कई मार्मिक भावों की रस-दशा को अभिव्यक्त करने में वह समर्थ हुआ है।

कथा-काव्य में स्थान-स्थान पर गीति-शैली के भी दर्शन होते हैं। दैवी-संयोग और आकस्मिक घटनाओं की संयोजना से काव्य में आद्यन्त उत्सुकता एवं कुतूहल बना रहता है। इसीलिए उसमें रोचकता एवं मधुरता की कमी नहीं है। कवि ने विभिन्न स्थलों पर इसके माध्यम से नाटकीय दृश्यों की संयोजना भी सफल रूप में की है, जिससे पाठक के मन में तरह-तरह की कल्पनाएँ उभरती हैं। वास्तव में इस प्रकार की विशेषताएँ बहुत कम काव्यों में दिखलाई पड़ती हैं।

काव्य में कवि का शब्द-विन्यास सुन्दर रूप में है और भाषा प्रांजल व सुष्ठ है। उसमें सूक्तियों, कथावर्तों एवं मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिनसे भाषा और भावों में सजीवता आ गई है। यह रचना काव्य-कला की दृष्टि से अपभ्रंश के प्रेमाख्यानक काव्यों में उत्कृष्ट है और कथानक रूढ़ियों के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाव, भाषा एवं शैली की दृष्टि से यह अत्यन्त सम्पन्न तथा प्रसाद गुण से युक्त काव्य है। यद्यपि प्रायः सभी रसों की संयोजना इस काव्य में हुई है, किंतु मुख्य रूप से विप्रलम्भ शृंगार का प्राधान्य है। अतः काव्य कथा की विशेषताओं को देखते हुए यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि वास्तव में यह कवि अपनी इस सुंदर कृति के द्वारा अमर हो गया।

1. एक्कारसहिं सएहिं गएहिं तेवीस वरिस अहि गहिं।

पोस चउद्दसि सोमे सिप्रा धधुंक्कय पुरम्मि ॥

● धन्धुका नाम का नगर गुजरात प्रदेश में अहमदाबाद के निकट है। इस नगर में ही कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र सूरि तथा 'सुपासनाहचरियं' के रचयिता मलधार-गच्छीय लक्ष्मण गणि जैसे विद्वानों का जन्म हुआ था।

2. एसा य गणिज्जंति पाएणा गुट्टभेण छदेण।

संपुण्णाहं जाया छत्तीस सयाइं वीसाइं ॥

3. समराइच्चवहाउ उद्धरिया सुद्ध संधिबधेण।

कोऊहलेण एसा पसन्नवयणा विलासवई ॥

□ □ □

जहिं पिक्कसालिछेत्तें घणेण

जहिं कीलागिरिसिहरंतरेसु
सिक्खंति पक्खि दरदावियाइं
जहिं पिक्कसालिछेत्तें घणेण
पंगुत्तें दीहें पीयलेण
जहिं संचरति बहुगोहणाइं
गोवालबाल जहिं रसु पियंति
मायंदकुसुममंजरि सुएण
जहिं समयल सोहइ वाहियालि
हरि भामिज्जंति कसासणेहिं
णिज्जंति गाय कण्णारएहिं
रुज्झंति गयासा ईरिएहिं
आसयर दिंति सिक्खावयाइं
कप्पूरविमीसु पवासिएहिं
घत्ता - ससिपहपायारहिं गोउरदारहिं जिणवरभवणसहासहिं॥

कोमलदलवेल्लिहरंतरेसु।
विडमणियमम्मणुल्लावियाइं।
छज्जइ महि णं उप्परियणेण।
णिवडंतरिंछपल्लवचलेण।
जव कंगु मुग्ग ण हु पुणु तणाइं।
थलसररुहसेज्जायलि सुयंति।
हयचंचुएण कयमण्णुएण।
वाहणपयहय वित्थरइ धूलि।
अण्णाणिय णाइं कुसासणेहिं।
णाय व्व णायकण्णारएहिं।
सीस व्व गयासाईरिएहिं।
णं मुणिवर गुणसिक्खावयाइं।
जहिं पिज्जइ सलिलु पवासिएहिं।

मढदेउलहिं विहारहिं घरवित्थारहिं वेसावासविलासहिं॥14॥

महाकवि पुष्पदंत, महापुराण, 1.14

जहाँ क्रीडापर्वतों के शिखरों के भीतर कोमल दलवाले लतागुहों में पक्षीगण थोड़ा-थोड़ा दिखना, और वितों के द्वारा मान्य काम की अव्यक्त ध्वनि करना सीख रहे हैं। जहाँ पके हुए धान्य के खेतों से भूमि ऐसी शोभित है मानो उसने उपरितन वस्त्र के प्रावरण (दुपट्टे) को ओढ़ रखा हो। जो (प्रावरण) लम्बा, पीला और गिरते हुए शुकों के पंखों के समान चंचल है। जहाँ अनेक गोधन जौ, कंगु और मूँग खाते हैं, फिर घास नहीं खाते। जहाँ गोपालबाल रस का पान करते हैं और गुलाब के फूलों की सेजपर सोते हैं। जहाँ क्रोध करने वाले शुक ने अपनी चोंच से आम्रकुसुम की मंजरी को आहत कर दिया है। जहाँ पर समतल राजमार्ग शोभित है। उस पर वाहनों के पैरों से आहत धूल फैल रही है। जहाँ सईसों के द्वारा घोड़े घुमाये जा रहे हैं, जैसे खोटे शासनों से अज्ञानीजनों को घुमाया जाता है। महावर्तों के द्वारा हाथी वश में किये जा रहे हैं, जैसे सपेरों के द्वारा साँप वश में किये जाते हैं। सवारों के द्वारा हाथी और घोड़े रोके जा रहे हैं, जैसे निराश आचार्यों द्वारा शिष्यों को रोक लिया जाता है। खच्चरों को शिक्षा शब्द कहे जा रहे हैं, मानो मुनिवर गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को दे रहे हैं। जहाँ प्याउओं पर ठहरे हुए प्रवासियों के द्वारा कपू से मिला हुआ पानी पिया जाता है।

घत्ता - जिनके परकोटे चन्द्रमा की प्रभा के समान हैं ऐसे, गोपुर द्वारवाले हजारों जिन-मंदिरों, मठों, देवकुलों, विहारों, गृह विस्तारों, वेश्याओं के आवासों और विलासों में से॥14॥

अनुवादक - डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

सिद्धों और नाथों के साहित्य के सामाजिक संदर्भ

- श्री राममूर्ति त्रिपाठी



भारतवर्ष अपने मूल स्वभाव में आध्यात्मिक रहा है और है। उसकी अनुभव-साक्षिक परात्पर चिन्मय सत्ता में पूर्ण आस्था है, यद्यपि उसका इदमित्थं निरूपण असंभव है तथापि अपनी-अपनी पहुँच के अनुरूप चित्त को कहीं एकाग्र करने के लिए गन्तव्य के तीर पर उसे आचार्यों ने लक्षण-लक्षित कर लिया है, साथ ही ऋजु-कुटिल नाना पथों का आविष्कार भी कर लिया गया है। हर व्यक्ति गन्तव्य तक अपनी चाल से चलकर पहुँचता है, फलतः यहाँ नाना प्रकार के मत-मतान्तरों का जाल फैलता रहा है। एक-एक प्रस्थान की कई-कई अवान्तर शाखाएँ होती गई हैं, कारण है रुचि और संस्कार भेद। यहाँ कोई तत्त्ववेत्ता अपने प्रस्थान को ऐतिहासिक नहीं मानता। सनातनी विद्या की शाब्दी अभिव्यक्तिवाली चाहे ब्राह्मण धारा हो या प्रातिभ अभिव्यक्ति मानने-वाली श्रमणधारा। नाथधारा के मूल पुरुष मत्स्येन्द्रनाथ थे जिनके शिष्य थे - गोरखनाथ। कुछ विद्वान दोनों को बौद्धसिद्ध परम्परा से जोड़ते हैं, पर अब यह नहीं माना जाता। मत्स्येन्द्रनाथ योगिनी कौल मत के प्रवर्तक थे, पर गोरखनाथ हठयोग के प्रवर्तक थे और इसकी अनादिता बनाने के लिए शिव से जोड़ लिया गया। हठयोग की साधन-प्रणाली षट्चक्र-भेद है और फल है सिद्धि। इसकी मूल बात है चन्द्र और सूर्य को समीकृत कर मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर ऊर्ध्व-यात्रा द्वारा सहस्रारस्थ शिव से तादात्म्यापन्न करना।

शरीर में चार अवयव अस्थिर हैं - काम, शुक्र, प्राण और मन। इनके स्थिरीकरण के बिना कोई भी साधना, साधना नहीं कही जा सकती। नाथ पंथ की साधना काम-प्राण की साधना है और मंत्रयानी बौद्धसिद्धों की बिन्दु-साधना। इनका लक्ष्य है - बोधिचित्त का समुत्पाद। शुक्र संवृतचित्त है उसे बोधिचित्त में परिणत करने के लिए शुक्र का शोधन कर उष्णीय चक्र में प्रतिष्ठित करना पड़ता है। एतदर्थ एकमात्र शून्यता और करुणा की मिलित युगनद्ध मूर्ति श्री सद्गुरु ही है। यही शिष्य में महामुख का विस्तार करता है।

यहाँ मूल विषय है सिद्धों और नाथों के साहित्य के सामाजिक सन्दर्भ, अतः ऊपर अत्यन्त संक्षेप में उनका सैद्धान्तिक स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। चाहे बौद्धसिद्धों के चर्यापद या दोहे हों अथवा नाथसिद्धों की बानियाँ, सामाजिक संदर्भ इन्हीं से प्राप्त किए जा सकते हैं। उनके सिद्धान्त-निरूपक ग्रन्थों से इसका पता नहीं चल सकता। 'गुह्य समाज तंत्र' या 'प्रज्ञोपाय विनिश्चय सिद्धि' से क्या मिलने वाला है? 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' या 'घेरण्ड संहिता' से ही क्या उपलब्ध होगा? हाँ, इन सिद्धान्तपरक ग्रंथों से समाज में अध्यात्म के प्रति आस्था पैदा की जा सकती है।

सामान्यतः यह धारणा है कि ये सिद्ध बंगाल से जुड़े हैं, और निम्न वर्ग से आए हैं, पर ऐसा नहीं है। ये बंगाल, आसाम, उड़ीसा, बिहार, पूर्वी उत्तरप्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र और सुदूर दक्षिण कर्नाटक तक के हैं। इसी प्रकार इनमें से कई तो राजा और राजकुमार तक बताए गए हैं। शासित जनता में ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ, कोरी, शूद्र वर्ग से भी तंत्रयान में दीक्षित मिलते हैं। इनकी रचनाओं - चर्यापद और दूहे - में इस विविधता की झलक कम मिलती है, संभव है विक्रमशील या विक्रमशिला विश्वविद्यालय में प्रायः सबके प्रवेश और साधना की यथासंभव एकरूपता के कारण विविधता अप्रासंगिक हो गई हो। उक्त द्विविध रचनाओं में साधनाओं और तज्जन्य उपलब्धियों की ही चर्चा प्रस्तुत है। अभिव्यक्ति के लिए अप्रस्तुत रूप में सामाजिक जीवन के संदर्भ आ जाते हैं।

मानव वन्य-प्राणियों की तरह एकल रहकर जीवनयापन नहीं करता, वह जिस समुदाय का अंग बनकर रहना पसन्द करता है उसे समाज कहते हैं। कतिपय मानवेतर प्राणी भी झुण्ड में रहना पसन्द करते हैं पर उनका उद्देश्य मात्र आत्मरक्षा है। हमारी परम्परा में इस झुण्ड को 'समाज' कहा गया है। समाज केवल आत्मरक्षा के लिए नहीं बना है, उसमें रहकर मानव अपनी अपरिमेय संभावनाओं को चरितार्थ करता है। ये संभावनाएँ सामाजिक या सबको समान बनाए रखने के लिए भी हो सकती हैं और व्यक्तिगत स्तर पर आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए भी होती हैं। बौद्धसिद्ध हों या नाथसिद्ध - समाज की व्यवस्था से हटकर जब वे व्यक्तिगत स्तर पर आध्यात्मिक स्तर की उपलब्धियों में अन्तर्मुखी होकर आत्मलीन हो जाते हैं और साधना तथा उसकी उपलब्धियों तक ही अपनी अभिव्यक्ति की सीमा बना लेते हैं तब सामाजिक संदर्भ का प्रसंग गौण हो जाता है,

उसका उपयोग अपनी उपलब्धियों की अभिव्यक्ति को बोधगम्य बनाने के लिए अप्रस्तुत के रूप में प्रायः लाया जाता है।

समाज के सदस्य के रूप में मानव ने जो कुछ अर्जित किया है - मूल्य, ज्ञान, विश्वास, यातु रस्मरिवाज, मनोरंजन के साधन आदि - प्रायः सभी से घटित इकाई को संस्कृति कहा जाता है। इसमें मानवीय और सामाजिक मूल्य और मान्यताओं का भी समावेश है - इसलिए संस्कृति को जीवन-मूल्य (Values of Life) भी कहते हैं। सामान्यतः हम उन्हें धर्म के नाम से भी पुकारते हैं और सभ्यता यानी जीवन-यापन के साधनों से पृथक् कर लेते हैं। धर्म या मूल्य के रूप में कुछ मूल्य हैं जो समाज को स्वस्थ बनाए रखने के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य हैं पर धर्म के कुछ रूप प्रातिस्विक रूप से आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए हैं।* इस संदर्भ में हमारी सीमा उन्हीं घटकों तक है जिन्हें सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा और समुन्नति के लिए उपयोगी माना जाता है। वैसे तो यह भी कहा गया है -

“अयमेव परो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्”

बौद्धसिद्ध या नाथ योगी का मुख्य लक्ष्य यही है। पर इसकी सिद्धि के लिए वे एकान्त चाहते हैं और समाज से कट जाते हैं। गोरखनाथ (गोरखबानी, पृष्ठ 17) कहते हैं -

गिरही सो जो गिरहै काया ।

अभि अन्तर की त्यागै माया ॥

योगी गृही या घरबारी नहीं। यदि समाज की कतिपय मान्यताएँ उन्हें बाधा प्रतीत होती हैं तो वे उसकी आलोचना भी करते हैं। उनकी दृष्टि में क्रमागत चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ऐसी ही है, इसलिए अस्वीकार्य लगती है। वहाँ अर्जित की जगह जन्मजात उच्चावच भाव का निर्धारण होता है। यहाँ दोनों एकमत होकर मानते हैं कि महत्ता उच्च कुल में जन्म लेने मात्र से नहीं, अपितु सात्त्विक पुरुषार्थ से अर्जित की जाती है और उसे मानवमात्र कर सकता है। प्रकृति ने किसी के साथ पक्षपात नहीं किया है। बौद्धसिद्ध कहता है कि ब्राह्मण या पण्डित शास्त्र रटकर वाचाल बनता है तो उससे क्या हुआ, यदि वह आत्मदर्शी नहीं हुआ - आत्मदीप नहीं हुआ -

पण्डिअ सकल सत्त बक्खाणइ ।

देहहि बुद्ध बसंत न जाणइ ॥

सरहपाद ने दोहा कोश के पहले ही दोहे में ब्राह्मणवाद पर प्रहार किया है। चर्यापदों की अपेक्षा दोहाकोश में यह स्वर और तीखा सुनाई पड़ता है। सरहपाद (दोहाकोश में) कहते हैं -

*समाज को धारण करनेवाले धर्म या संस्कृति की आत्मवादी और वैज्ञानिकों द्वारा दो दृष्टियों से व्याख्या की गई है। आत्मवादी दृष्टि से उसे जीवन-मूल्य (पारमार्थिक और व्यावहारिक) कहते हैं और वैज्ञानिक दृष्टि से वह सबकुछ जो समाज के सदस्य के रूप में वह अर्जित करता है।

बम्हणेइ म जानन्तहि भेउ। एवइ पढि अउ ए चउ बेउ।
मट्टि पाणि कुस पढन्तं। घरहि बइसि अगि हुणन्तं।
कज्जे बिरहिअ हुतवह होमे। अक्खि उहाविअ कहए धूमें॥1-2॥

गोरख भी मानते हैं कि विभिन्न मतों वाले पण्डित अपने मत का मण्डन और दूसरे मत के खण्डन में लगे रहते हैं, किन्तु योगी को इस प्रकार के शास्त्रार्थ में नहीं पड़ना चाहिए।

सिद्ध और नाथ - दोनों गुरु-वचन को ही एकमात्र शरण मानते हैं -

कोई वादी कोई विवादी, जोगी को वाद न करना (गोरखबानी, पृष्ठ 5)

वर्णाश्रमवादियों का स्पृश्य-अस्पृश्य-विवेक सिद्धों को बहुत सालता है। वे इस बात को रेखांकित करते हैं। सिद्ध कणहपा कहते हैं -

नगर बाहिर डोंबि तोहोरि कुड़िया। छइ छोइ यादुसि बाहम नाडिया।

आलो डोंबि तोए सम करिब म साङ्ग। निधिण कान्ह कापालि जोइ लाङ्ग॥

उन दिनों उच्च वर्णवाले न केवल अन्त्यजों का स्पर्श मात्र नहीं करते थे, अपितु इसके कारण उन्हें नगर के बाहर बसाया जाता था, प्रायः दक्षिण दिशा की ओर। वे कहते हैं - 'अरी डोमिन, तेरा घर तो नगर के बाहर है, किन्तु तुम ब्राह्मणों और ब्रह्मचारियों को छू-छू दिया करती हो। तेरा साथ मुझे करना है क्योंकि मैं भी स्वयं कपाली हूँ - नंगा जोगी हूँ तथा इसी कारण मैं घृणास्पद भी समझा जाता हूँ।'

इन सिद्धों ने ब्राह्मणों, पोंगे पण्डितों, पाखण्डियों, दुराचारी, कापालिकों के साथ-साथ भ्रष्ट बौद्धों की भी भर्त्सना की है। विनयश्री ने अपने एक पद में कहा है कि समरस दशा में ब्राह्मण और चाण्डाल में कोई भेद नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अन्तःकरण का शोधन जिन मूल्यों के जीने से होता है उनसे विमुख जो भी रहता था अध्यात्म में सिद्धजन उनकी निन्दा खुलकर करते थे। नाथपंथी बानियों में तो मूल्यों की चर्चा सर्वत्र सुनाई पड़ती है। गोरख ने जो अपने स्वप्न की नगरी बसाई है - उसमें सत्य बादशाह की बीवी है, सन्तोष शाहजादा और क्षमा तथा भक्ति - दो दाई हैं। 'गोरखबानी' (पृष्ठ 121) में कहा गया है -

तहाँ सत्य बीवी, सन्तोष साहिजादा, छिमा भगति द्वै दाई।27।

सिद्धों ने भी कहा है कि संसार के कीचड़ में चित्त को कमल की तरह रहना चाहिए। मोह-रूपी वर्धिष्णु वृक्ष को काटने, आवारा मूषिक रूप चंचल चित्त-स्वभाव को नाश करने, विषय-रूपी विषदंश से बचकर रहने तथा विशुद्धानन्द की प्राप्ति के लिए सुदूर लंका न जाने की शर्तिया सलाह भी दी गई है -

उजु रे उजु मालेहु रे बांक । नियडि वोहि मा जाहु रे लांक ।
हाथेरे काङ्कण मा लेउ दापण । अधणै अपा बुझतु णिज मण ॥

(सरहपाद, चर्या 32)

एक तरफ नाथगण घरबारी न होने की बात करते हैं, दूसरी तरफ बौद्धसिद्ध गुण्डरीपाद की बानी सुनें -

जो इनि तइ बिनु खनहिं न जीवमि ।

तो मुह चुम्बी कमल रस पीवमि ॥ (चर्या 4)

ऐसी रचनाओं में कुछ अन्यथा प्रतीति होती है परन्तु तथ्य यह है कि चर्याकारों ने नर-नारी मिलन रस के प्रतीकों द्वारा पारमार्थिक आनन्दलोक की सृष्टि की है। चर्या पदों में स्थान-स्थान पर यह नारी महामुद्रा या योगिनी रूप में प्रकट हुई है। गुण्डरीपाद उक्त रचना के माध्यम से कह रहे हैं - 'हे नैरात्म्य योगिनी! तुम्हारे बिना मैं क्षणमात्र के लिए भी जीवित नहीं रहूँगा। सहजानन्द स्वरूप तुम्हारे मुख का चुम्बन कर मैं बोधिचित्तरूप कमल-रस का पान करूँगा।'

समाज को धर्म-भावना या मूल्य-भावना ही धारण करती है। आत्मवादी दृष्टि से मूल्य (Values of Life) ही संस्कृति है, जिसके व्यावहारिक और पारमार्थिक - दो पक्ष हैं। आत्मदर्शन पारमार्थिक पक्ष है और करुणा आदि पदार्थ-वृत्तियाँ व्यावहारिक। सिद्धों ने इन दोनों की अभिव्यक्ति की है।

सम्प्रति, वैज्ञानिक दृष्टि से 'Culture' के अनूदित रूप 'संस्कृति' में वह सबकुछ आता है जिन्हें समाज के सदस्य के रूप में मानव ने अर्जित किया है - ज्ञान, विश्वास, रस्म-रिवाज, जीविका के साधन, मनोरंजन के प्रकार आदि। ये द्रष्टव्य हैं -

(i) स्पृश्य-अस्पृश्य का विवेक या विचार भी अर्जित तत्त्व ही है, वर्णाश्रमवादी समाज की यह एक रूढ़ि बनकर दूषित स्तर तक पहुँचा दी गई, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(ii) सामाजिक प्रथाएँ या रीतिरिवाज।

समाज की स्वीकृति से ही प्रथाएँ, रस्म और रिवाज स्थापित होते हैं, पर समय के लम्बे दौर में विवेक-प्रसूत-स्थिति शिथिल या निःशेष हो जाती है तब वह प्रथा अर्थहीन रूढ़ि बन जाती है। अब दहेज की ही प्रथा, जो आज परेशानी की जड़ बन गयी है, उसका उल्लेख निम्नलिखित पंक्तियों में है -

भव निर्वाणे पडह मादला । मन पवन करउं कसाला ।

जअ जअ दुंदुहि साद उछलिया । कान्ह डोंबि विवाहे चलिया ॥

डोंबी विवाहिया अहारिउ नाग । जउत के किअ आणु सतु धाम ॥

- (कणहपा, चर्या 19)

अर्थात् जिस समय कण्ह डोमिन से विवाह करने चला, उस समय भव एवं निर्वाण - दोनों के पटह और मादल निनादित हुए। मन एवं पवन के करंग एवं कशाला बजने लगे। डोमिन का पाणिग्रहण कर कण्ह ने अपने जन्म का अन्त कर डाला। दहेज के रूप में उसने अनुत्तर धाम प्राप्त कर लिया, फलतः अब वह सदा आनन्दमग्न रहने लगा। इसी प्रकार शबरपा ने अन्त्येष्टि-क्रिया के विवरण से भी अपनी उपलब्धि प्रस्तुत की। यहाँ चंचाली (अर्थी), दाहक्रिया, गृध्र एवं सियारों का रुदन, दसों दिशाओं में बलि का पिण्डदान - और इस प्रकार साधक शबर का शबरपना मिट जाएगा।

उस समय समाज में जीविका के क्या साधन थे - इस पर भी उनकी रचनाओं से पता चलता है। विरूपा में अपनी साधना-पद्धति का परिचय देते हुए मद की तैयारी तथा उसके विक्रय का वर्णन करने में लग जाते हैं। इससे पता चलता है कि उन दिनों इस प्रकार की कोई जीविका चलती रही होगी। वे कहते हैं कि एक ही कलाली दो घरों का सम्बन्ध जोड़ दिया करती है और चिकने वल्कल द्वारा मदिरा को बाँध देती है जिसको देखते ही मद को क्रय करनेवाला आप से आप आ जाता है और फिर वहाँ से वह निकल नहीं पाता। एक ही छोटी सी गगरी में पतली-सी नली लगी रहती है, इस कारण बड़े शान्त भाव से उसे चलाना कहा जाएगा।

इसी प्रकार सिद्ध शान्तिपा ने अपनी एक चर्या के द्वारा धुनियाँ के हाथ धुनी जानेवाली रूई के महीन अंशों का स्मरण दिलाया है। उनका कहना है कि वे रूई को उसके सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अंशों को तबतक धुनता चला गया जबतक कुछ भी शेष नहीं रह गया। इस प्रकार रूई को शून्य तक पहुँचा दिया तथा उसे जमा किया और स्वयं अपने को ही निःशेष कर डाला। सिद्ध तंतीया ने तो स्वयं अपने वयनजीवी कार्य-पद्धति की ओर संकेत किया है। यह वयन-कार्य अनाहत शब्द है। इसी प्रकार सिद्ध कण्हपा अपनी डोमिन से कहते हैं कि अब तू अपनी ताँत बेच दे और चंगेले को भी अपने पास न रख। इससे चंगेली, सूप आदि से बीनने का पता चलता है। इन तमाम जीविका के उपायों का उतना उल्लेख नहीं मिलता जितना नावों के खेने का। उदाहरण के लिए सिद्ध कामलिया की चर्या ली जा सकती है जिससे इसका पता चलता है। उन्होंने कहा है करुणा की नाव सोने से भरी हुई है और इसमें चाँदी रखने के लिए कोई जगह नहीं है। अब तू खूँटे को उखाड़कर बँधे हुए रस्से को खोल दे और सद्गुरु से पूछकर आगे बढ़ जा। इसी प्रकार डोंबीपा ने भी कहा है - गंगा व यमुना के मध्य नाव चलती है। वहाँ रहनेवाली डोमिन जोगी को सुविधा के साथ पार करा देती है। सिद्ध सरहपाद भी काया को एक छोटी नाव कहते हैं। इसका केरूवार मन है। ये तो हुए जीविका के साधन।

सम्प्रति, समाज में प्रचलित मनोरंजन के प्रकारों पर आएँ। सिद्ध भूसुकपाद ने मनोरंजन के साधनों में हरिण के आखेट का वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि तदर्थ कैसे-कैसे और क्या-क्या किया जाता रहा होगा। सिद्ध भूसुकपाद ने हरिण के आखेट के लिए कहीं हँकवा की

और कहीं जाल बिछाने की बात की है। सिद्ध कण्डपा की एक चर्या से ज्ञात होता है कि उस समाज में शतरंज के खेल का भी प्रचलन था। वे करुणा की झलक पर से शतरंज खेलते हैं। इसी प्रकार वीणापा ने अपनी चर्या द्वारा वीणा के निर्माण एवं वादन का भी अच्छा चित्रण किया है। उनकी वीणा में सूर्य की तूँबी और चन्द्र की ताँत है।

निष्कर्ष यह कि चर्या पदों के अन्तर्गत कतिपय ऐसे चित्रणों पर ध्यान जाता है तो लगता है इन लोगों ने समकालीन समाज की स्थिति, उसके कुछ सदस्यों की मनोवृत्ति, रहन-सहन, प्रथाओं तथा मनोरंजन साधनों का कुछ न कुछ संकेत किया है।

जहाँ तक नाथधारा का सम्बन्ध है ऊपर उनके सिद्धान्तों का कुछ परिचय दिया जा चुका है। समाज-निर्धारक संस्कृति के आत्मवादी दृष्टि से निर्गत मूल्यों की चर्या पहले की जा चुकी है और गोरखबानी में ऐसे मूल्यपरक उपदेश भरे हुए हैं जिनकी तत्कालीन समाज में मान्यता थी -

तनक न बोलिवा, ठबकि न चलिवा धीरै धरिवा पाँव।

गरब न करिवा, सहजै रहिवा, भणत गोरख राँव ॥27॥

- (गोरखबानी, पृष्ठ 11)

वैज्ञानिक दृष्टि से निर्धारित संस्कृति के घटकों के भी अप्रस्तुत रूप में संकेत मिलते हैं। अप्रस्तुत ही नहीं, प्रस्तुत रूप में भी समाज की उपयोगी बात कहते हैं -

लिया न स्वाति, बैद र रोगी, रसायणी अरव्यचि घाय।

बूढ़ा न जोगी सूरान पीठि पाछै घाव यतनां न मानै श्री गोरखराय ॥210॥

- (गोरखबानी)

जो स्त्री स्वाति जल के लिए चातक के समान पति-प्रेम नहीं रख सकती, वह स्त्री नहीं। वैद्य अगर वस्तुतः वैद्य है तो उसे रोग नहीं व्याप सकता। रसायनी को, जो लोहे आदि नीची धातुओं को सोने में बदलने का दावा करता है, माँगकर खाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। जोगी को बुढ़ापा नहीं आना चाहिए। शूर की पीठ पर घाव नहीं हो सकता। यदि इन लोगों में ये बातें पाई जाएँ तो ये क्रमशः वे जो हैं - वे हैं।

अप्रस्तुत के सहारे इन नाथों ने भी अभिव्यक्ति की है, जैसे -

नाक न निकसे, बूंद न ढलकै, सहज अंगीठी भरि-भरि राँधै।

सिध समाधि योग अभ्यासी, तब गुरु परचै साँधै ॥44॥

यहाँ भोजन बनाने की प्रक्रिया अप्रस्तुत है। इसी प्रकार एक नट-विद्या है कि खम्भे और डोरी के सहारे आसमान पर पहुँच जाता है, यह भी अप्रस्तुत ही है -

धीरजि थंम न डोरि धुनि, समाना आसमान।

अटल दुलीचा अलख पद, जहाँ गोरख का दीवान ॥45॥

- (ग्यान तिलक - गोरखबानी, पृष्ठ 218)

भोजन-प्रक्रिया का अनेकत्र वर्णन है, जैसे सिद्धों में नौका का -

दिसणि हमारी दीवी पाकै, अगनि बलै मुलतान।

ऐसे हम जोगेस्वर नियना, प्रगटा पद निर्वान ॥

- (ग्यान तिलक - गोरखबानी, पृष्ठ 218)

कहीं-कहीं किसानी का भी अप्रस्तुत मिलता है, जैसे -

हाली भीतरि खेत निदांणै, बगु में ताल समाई ।

बरखै मोर कठूकै सारण, नदी अपूठी आई ॥16॥

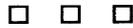
- (ग्यान तिलक - गोरखबानी, पृष्ठ 218)

इस प्रकार प्रायः इन दोनों संप्रदायों में अप्रस्तुतों द्वारा ही सामाजिक सन्दर्भों का संकेत

है।

2, स्टेट बैंक कॉलोनी

देवास रोड, उज्जैन (म.प्र.)



महाकवि भास-कृत 'अविमारकम्' में प्रयुक्त प्राकृत के अव्यय

- डॉ. (श्रीमती) कौशल्या चौहान



प्राकृत में रूपान्तर के अनुसार पदों के दो भेद हैं - विकारी और अविकारी।¹ जिस सार्थक शब्द के रूप में विभक्ति या प्रत्यय जोड़ने से विकार या परिवर्तन होता है उसे विकारी कहते हैं। विकारी अर्थात् परिवर्तनशील सार्थक शब्दों के संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया और विशेषण - ये चार मूल भेद हैं।² ऐसे शब्द, जिनके रूप में कोई विकार अर्थात् परिवर्तन उत्पन्न न हो और जो सदा सभी लिङ्गों, सभी विभक्तियों और सभी वचनों में एकसमान रहें, अविकारी अर्थात् अव्यय कहलाते हैं।³ अव्ययवाची शब्द सदा एकरूप रहते हैं। इनके रूपों में कोई घटाव-बढ़ाव नहीं होता है।⁴ पाणिनि के अनुसार स्वर-आदि तथा निपात की अव्यय संज्ञा होती है।⁵ तद्धित प्रत्ययान्त⁶, कृदन्त⁷ तथा कुछ समासान्त⁸ शब्द भी अव्यय होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण के आठवें अध्याय के द्वितीय पाद के 175वें सूत्र से लेकर इसी पाद की समाप्तिपर्यन्त अनेक अव्ययों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग दर्शाया है।⁹ भास विरचित 'अविमारकम्' में प्रयुक्त प्राकृत में यद्यपि पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट अव्ययों का भी प्रयोग किया गया है परन्तु प्रस्तुत शोध-पत्र में हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत-व्याकरण को ही आधारभूत मानकर 'अविमारकम्' में प्रयुक्त प्राकृत के अव्ययों का उल्लेख किया जा रहा है।

1. किल - (अनिश्चिताख्यानार्थक) - आचार्य हेमचन्द्र ने किल के अर्थ में किर, इर तथा हिर अव्ययों के प्रयोग का उल्लेख किया है।¹⁰ परन्तु वररुचि के अनुसार अनिश्चित

अर्थात् असम्यग् अर्थ को सूचित करने के लिए 'इर', 'किर' तथा 'किल' अव्ययों का प्रयोग होता है।¹¹ अविमारकम् में इन तीनों अव्ययों में से केवल 'किल' का प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर हुआ है -

तुवं किल अवेदिओ।	अंक-2, पृ. 28
सुदं च मए भट्टिणीय समीवे अमच्चेहि किल भणिदं।	अंक-2, पृ. 36
तर्हि किल भट्टिणीए भणिदं।	अंक-3, पृ. 60
तदो तं पि किल अणुमदं महाराएण।	अंक-3, पृ. 60
उट्ठेहि किल।	अंक-3, पृ. 83
एदं वि ओसधं लिम्पेहि किल।	अंक-5, पृ. 128
सअं किल कासिराओ जण्णवावारेण ण आअदो।	अंक-6, पृ. 142
अज्ज किल अहिअसन्दावो जादो।	अंक-6, पृ. 144

2. आम - (अभ्युपगमार्थक) प्राकृत के अनुसार अभ्युपगम अर्थात् स्वीकार तथा सम्मति जैसे अर्थों के लिए 'आम' अव्यय का प्रयोग करना चाहिए।¹² अविमारकम् में निम्नलिखित स्थलों पर 'आम' अव्यय का प्रयोग हुआ है -

आम भो ! दिट्ठाओ तत्तहोदीओ!	अंक-2, पृ. 49
आम भोदि ! जण्णोपवीदेण बम्हणो, चीवरेण रत्तपडो।	अंक-5, पृ. 135

3. एव्व - (अवधारणार्थक) त्रिविक्रमदेव के अनुसार शौरसेनी प्राकृत में एव के अर्थ में 'एव्व' अव्यय का प्रयोग होता है।¹³ अविमारकम् में निम्नलिखित स्थलों पर 'एव्व' अव्यय का प्रयोग हुआ है -

तत्तहोदो आवासं एव्व गच्छामि।	अंक-2, पृ. 26
एसो भट्टिटदारओ इदो एव्व आअच्छदि।	अंक-2, पृ. 30
तर्हि तर्हि एव्व पडन्ति	अंक-2, पृ. 31
जोअसत्थं एव्व होदु।	अंक-2, पृ. 41
पवेसमत्तं एव्व दुल्लहं।	अंक-2, पृ. 44
एत्थ एव्व जामादुओ आणीदव्वो त्ति।	अंक-3, पृ. 60
णक्खत्तविसेसं एव्व चिन्तअन्ति	अंक-6, पृ. 143

4. हला - (आमन्त्रणार्थक) आचार्य हेमचन्द्र ने सखि के आमन्त्रण के लिए विकल्प से 'मामि', 'हला' तथा 'हले' अव्ययों के प्रयोग का उल्लेख किया है।¹⁴

इन तीन अव्ययों में से अविमारकम् में केवल 'हला' अव्यय का ही निम्नलिखित स्थलों पर प्रयोग हुआ है -

हला माअधिए ! किं एदं।

अंक-4, पृ. 88

हला णलिणिए ! एहि दाव।

अंक-6, पृ. 145

5. अम्मो - (आश्चर्यबोधक) प्राकृत में आश्चर्य अर्थ के लिए 'अम्मो' अव्यय का प्रयोग होता है।¹⁵ अविमारकम् में भी आश्चर्य अर्थ में ही निम्नलिखित स्थलों पर इस अव्यय का प्रयोग हुआ है -

अम्मो पिप्पलवदि।

अंक-2, पृ. 40

अम्मो सहीओ। किं एदं।

अंक-4, पृ. 88

6. विअ - (उपमार्थक) - प्राकृत में इव अव्यय के अर्थ में विकल्प से 'मिव', 'पिव', 'विव', 'व्व', 'व' तथा 'विअ' अव्ययों का प्रयोग होता है।¹⁶ अविमारकम् में इन अव्ययों में से निम्नलिखित स्थलों पर केवल 'विअ' अव्यय का ही प्रयोग हुआ है -

अण्णदिसो विअ संवुतो।

अंक-2, पृ. 26, 46

मम पादा सिविणे हत्थिणा आसादिअमाणस्स

विअ तहिं तहिं एव्व पडन्ति।

अंक-2, पृ. 31

एवं विअ।

अंक-2, पृ. 45

पसारिअगुलमहरसङ्गदो विअ।

अंक-2, पृ. 46

अणुलित्तो विअ पण्डुभावेण इदो एव आअच्छदि।

अंक-2, पृ. 46

आमन्तणविप्पलद्धो विअ बम्हणो अहोरत्तं चिन्तेसि।

अंक-2, पृ. 48

गणिआ विअ रत्तिं पस्सदो सइदुं आअच्छामि।

अंक-2, पृ. 48

एवं विअ।

अंक-3, पृ. 62, 82

ओघो विअ उभअपक्खं पीडेइ।

अंक-3, पृ. 79

भट्टिटदारिआ पदुमिणिआ विअ दिस्सदि।

अंक-4, पृ. 87

एसो खु पासादो णिव्वाविददीवो विअ मे पडिभादि।

अंक-4, पृ. 88

सिविणं विअ किं एदं।

अंक-4, पृ. 89

तं विअ पेक्खामि

अंक-4, पृ. 115

वडुओ विअ तुवरसि

अंक-4, पृ. 118

बालचन्दलेहा विअ दिट्टिं तोसेदि ।	अंक-5, पृ. 124
सम्पदि णस्सदि विअ मे सरीरदाहो ।	अंक-5, पृ. 129
मूडा विअ जादा ।	अंक-5, पृ. 131
एकक्खणेण णस्सदि विअ मे सरीरदाहो ।	अंक-5, पृ. 131
अप्पसण्णा विअ उस्सुआ दीसइ ।	अंक-6, पृ. 143
अद्य किदसइकेदा विअ अम्हाअं सव्वसइकडा ।	अंक-6, पृ. 144
चलदी विअ मे हिअअं ।	अंक-6, पृ. 167

7. थू - (कुत्सार्थक) प्राकृत में कुत्सा अर्थ के लिए 'थू' अव्यय का प्रयोग होता है।¹⁷ अविमारकम् में 'थू' अव्यय का द्वित्वयुक्त प्रयोग उपलब्ध होता है। द्वित्व के कारण ही इसे ह्रस्व उकार हो गया है। निम्नलिखित प्रयोग द्रष्टव्य है -

उच्छिट्ठं करिस्सं । थु थु । अंक-4, पृ. 117

8. हद्धि - (निर्वेद सूचनार्थक) प्राकृत में निर्वेद अर्थात् खेद, शोक तथा वैराग्य को दर्शाने के लिए 'हद्धि'¹⁸ तथा 'हद्धी'¹⁹ - इन दोनों ही अव्ययों का प्रयोग होता है। अविमारकम् में 'हद्धि' अव्यय का प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर हुआ है -

हद्धि दुवारणिरोहेण अवअदसन्दावं अत्ताणं करिस्सदि । अंक-5, पृ. 133

हद्धि तं एव संवुत्तं । अंक-5, पृ. 133

9. खु-हु-णं (निश्चयार्थक बोधक) महाराष्ट्री प्राकृत में निश्चय, वितर्क, सम्भावन और विस्मय इत्यादि को दर्शाने के लिए 'हु' तथा 'खु' अव्ययों का प्रयोग होता है।²⁰ अविमारकम् की प्राकृत में निम्नलिखित स्थलों पर इन अव्ययों का प्रयोग द्रष्टव्य है -

9.1 खु -

किण्णु खु भविस्सदि ।	अंक-1, पृ. 11
सच्चो खु लोअप्पवादो ।	अंक-2, पृ. 26
किण्णु खु ईदिसो ।	अंक-2, पृ. 36
कोणु खु भवे ।	अंक-2, पृ. 36
केण खु भणिदं ।	अंक-2, पृ. 37
धण्णो खु सो जणो ।	अंक-2, पृ. 38
किं णु खु एत्थ कय्यं ।	अंक-2, पृ. 46
केण खु उवाएण ।	अंक-2, पृ. 49

हं भिन्दामि ख्नु मन्दभाआ।	अंक-3, पृ. 55
सुत्ता ख्नु तुवं।	अंक-3, पृ. 56
अब्भन्तरमण्डवे ख्नु रइदं सअणं।	अंक-3, पृ. 57, 83
अदिपण्डिदा ख्नु संवुत्ता।	अंक-3, पृ. 58
अभिणवा ख्नु कहा।	अंक-3, पृ. 58
किंणु ख्नु भवे।	अंक-3, पृ. 59
बाला ख्नु मे दुहिआ।	अंक-3, पृ. 60
कोणु ख्नु अभूदपूव्वो रोओ।	अंक-3, पृ. 62
माअधिआ ख्नु अहं।	अंक-3, पृ. 62
विलासिणी ख्नु अहं।	अंक-3, पृ. 62
सोवाणसद्देण ख्नु भट्टिदारिआए विज्जादं।	अंक-3, पृ. 62
को णु ख्नु वुत्तन्तो भट्टिटंदारअस्स।	अंक-3, पृ. 78
एसो ख्नु भअवं कामदेवो।	अंक-3, पृ. 79
भणिदं ख्नु मए पुढमं।	अंक-3, पृ. 80
चिरं ख्नु उवविट्ठा।	अंक-3, पृ. 81
किं णु ख्नु भवे।	अंक-4, पृ. 85
ण ख्नु	अंक-4, पृ. 86
सुजोजिदो ख्नु भट्टिटदारिआए रूवाणुरूवो भत्ता।	अंक-4, पृ. 87
एसो ख्नु संवच्छरो अदिक्कन्दो।	अंक-4, पृ. 88
एसो ख्नु वुत्तन्तो त्ति सुणिअ सीददि विअ सरीरं।	अंक-4, पृ. 88
एसो ख्नु पासादो णिव्वाविददीवो विअ में पडिभादि।	अंक-4, पृ. 88
ण सक्कं ख्नु भट्टिटदारिआए अवत्थादंसणं।	अंक-4, पृ. 90
अज्ज ख्नु तत्तहोदीए भणिदं।	अंक-4, पृ. 113
परिस्सन्तो ख्नु अहं।	अंक-4, पृ. 115
चिरं ख्नु सुत्तमिहं।	अंक-4, पृ. 115
किण्णु ख्नु जीवदि	अंक-4, पृ. 118
तुवं ख्नु सव्वलोए अहं सुरूवो त्ति अत्ताणं आअरसि	अंक-5, पृ. 124

भो ! विस्सरिदं खु मए एदं।	अंक-5, पृ. 126
किण्णु खु सच्चं एदं।	अंक-5, पृ. 131
इत्थिआ खु अहं।	अंक-5, पृ. 134
हस्सो खु अअं बम्हणो।	अंक-5, पृ. 136
अदिसुउमारो खु अहं।	अंक-5, पृ. 138
किण्णु खु एदं भविस्सदि।	अंक-6, पृ. 142
किण्णु खु जअदा इअं।	अंक-6, पृ. 143
पेसिदो खु सोवीरराअस्स अमच्चेहि दूदो।	अंक-6, पृ. 145
किण्णु खु भवे।	अंक-6, पृ. 146

9.2 हु -

किण्णु हु भवे।	अंक-2, पृ. 39
ण हु एत्थ को वि जणो।	अंक-5, पृ. 127
किण्णु हु एसा मम मादा।	अंक-6, पृ. 144

9.3 णं -

शौरसेनी प्राकृत में ननु के अर्थ में 'णं' अव्यय का प्रयोग होता है। अविमारकम् की प्राकृत में निश्चयार्थक 'णं' का प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर हुआ है -

णं महाराएण कहिदं।	अंक-1, पृ. 5
हला ! णं पविसामो।	अंक-2, पृ. 39
णं णिट्ठिदं कय्यं अम्हाअं राअउले विवित्ते अवआसे	अंक-2, पृ. 42
णं णिट्ठिदो सुअपञ्जरो भट्ठिदारिए।	अंक-3, पृ. 56
णं सम्भावणीओ एसो।	अंक-3, पृ. 63
णं सो एव सो।	अंक-3, पृ. 63
णं मण्डणवेला भट्ठिदारिए।	अंक-4, पृ. 89
हला ! णं सीदलं दे सरीरं।	अंक-5, पृ. 128
णं तं णिवेदिउं आअदम्हि।	अंक-6, पृ. 145

10. पि, वि (समुच्चयार्थक) - प्राकृत में अपि के अर्थ में 'पि' तथा 'वि' अव्ययों का प्रयोग होता है।²² अविमारकम् की प्राकृत में भी निम्नलिखित स्थलों पर इन अव्ययों का प्रयोग द्रष्टव्य है -

10.1 पि -

अहं पि दाव बम्हणपरिवादं परिहरन्तो...गच्छामि।	अंक-2, पृ. 26
अहं पि तर्हि अच्छरिअं।	अंक-2, पृ. 35
तर्हि पि को वि जणो।	अंक-2, पृ. 42
अहं पि दाव दिअसे णअरं...आअच्छामि।	अंक-2, पृ. 48
एक्कं पि दिअसं अपेक्खन्ती जीविउं।	अंक-3, पृ. 60
तदो तं पि किल अणुमदं महाराएण।	अंक-3, पृ. 60
अहं पि काले पस्सदो पभवामि त्ति।	अंक-2, पृ. 61
आसुय्योदअं पि ण किदा पासादरअणा।	अंक-4, पृ. 85
मम एक्कं पि हिअअप्पीदिकरं ण जादं।	अंक-4, पृ. 88
अहं पि....इह आअदम्हि।	अंक-4, पृ. 89
अहं पि दाव अदिस्सो।	अंक-4, पृ. 117
एवं पि एसा बालचन्दलेहा।	अंक-5, पृ. 124
अहं पि तं जाणिअ....विस्सम्भं ण करेमि।	अंक-5, पृ. 125
एक्कं पि तर्हि दुल्लहं मम णअणादो बप्फं ण णिग्गच्छइ।	अंक-5, पृ. 132
एदं पि भोअणं चिन्तेसि।	अंक-5, पृ. 135
किं पि कत्तुं ववसिअ...पडिदा।	अंक-5, पृ. 136
हं एदं पि इमेहि दिट्ठं।	अंक-5, पृ. 137
हं, एदं पि भअवं जाणादि।	अंक-6, पृ. 165

10.2 वि -

मए वि सह गोट्ठिं णेच्छदि।	अंक-2, पृ. 26
तेसं अत्थो वि मुणिओ।	अंक-2, पृ. 29
सीलं जाणन्तो वि अत्तणो भोअणविस्सम्भेण छालिदोम्हि।	अंक-2, पृ. 30
भोअणं वि अलिअं चिन्तेमि।	अंक-2, पृ. 30
जाव अहं वि धावामि।	अंक-2, पृ. 30
मम वि सा अज्ज वि पच्छादेदि।	अंक-2, पृ. 35

एकस्सा वि किञ्चि ण मन्तेदि।	अंक-2, पृ. 35
अत्ताणं केण वि कारणेण पच्छादेदि त्ति।	अंक-2, पृ. 36
एत्थ को वि ण दिस्सदि।	अंक-2, पृ. 37
कामेदवो वि भट्टिदारिआए रूवं पेक्खिअ किलिस्सिदि।	अंक-2, पृ. 38
तेण सो वि किलिस्सिदि त्ति तक्केमि।	अंक-2, पृ. 38
किं वि चिन्तअन्तो चिट्ठई।	अंक-2, पृ. 39
एसो वि किलिस्सिदि त्ति।	अंक-2, पृ. 41
तहिं पि को वि जणो अहिअदरं जोअं चिन्तअन्तो अच्छदि।	अंक-2, पृ. 42
सो वि दाव अम्हाअं अघण्णदाए केण वि	अंक-2, पृ. 46
अक्कोसन्तो वि एक्को इच्छिदव्वो।	अंक-2, पृ. 51
किं अण्णो वि अत्थि।	अंक-3, पृ. 56
अह अ सा वि मं पेक्खन्ती सव्वं विस्सत्थं ण भणादि।	अंक-3, पृ. 61
मम वि अत्थरं अत्थरेहि।	अंक-3, पृ. 64
भट्टिदारिआ वि अवत्थादुल्लहं णिइं लभदि।	अंक-3, पृ. 78
णणु पुप्फं वि वासीअदि।	अंक-4, पृ. 86
अहं वि चिन्तेमि।	अंक-4, पृ. 87
खणमत्तं वि ण रमदि।	अंक-4, पृ. 87
तह वि भट्टिदारिअं अस्सासइस्सामो।	अंक-4, पृ. 90
पुणो वि तादिसो एव संवुत्तो।	अंक-4, पृ. 112
अहं वि कुमारं वा कुमारस्स सरीरं वा पेक्खिस्सामि।	अंक-4, पृ. 112
अम्हेहि सददलालिदा वि अदेसकालञ्जदाए अत्तणो	
अहिकञ्जभावं दंसेदि।	अंक-5, पृ. 121
सुअसारिआ वि वक्खाणं एव कहेदुं आरद्धा।	अंक-5, पृ. 121
भूदिअसारिआ वि सव्वलोअवुत्तन्तं कहइस्सामि त्ति आअदा।	अंक-5, पृ. 121
एत्थ वि महन्तो अणत्थो उट्ठिदो।	अंक-5, पृ. 122
एदस्मि णअरे केण वि विस्सम्भं म करेमि।	अंक-5, पृ. 125

ण हु एत्थ को वि जणो।	अंक-5, पृ. 127
एदं वि ओसधं लिम्पेहि किल।	अंक-5, पृ. 128
अहव अहं वि रोदामि।	अंक-5, पृ. 132
तदा वि महन्तेण आरम्भेण रोदिदु आरद्धो	अंक-5, पृ. 132
तह वि अणुस्सुओ रोदामि।	अंक-5, पृ. 132
केण वि संओओ जादो।	अंक-6, पृ. 142
किं वि चिन्तअन्ती अप्पसण्णा विअ उस्सुआ दीसइ	अंक 6, पृ. 143
एसा मम मादा वसुमित्ताए सह किं वि चिन्तेदि।	अंक-6, पृ. 144

11. ही ही (हर्ष द्योतक) - शौरसेनी प्राकृत में विदूषक के हर्षद्योतन के लिए ही ही अव्यय का प्रयोग होता है। अविमारकम् की प्राकृत में निम्नलिखित स्थलों पर इस अव्यय का प्रयोग द्रष्टव्य है -

ही ही किं बहुणा, मए वि सह गोट्टिं णेच्छदि।	अंक-2, पृ. 26
ही ही एसो अत्तभवं कामुअजणवण्णएण अणुलित्तो विअ पण्डुभावेण इदो एव आअच्छदि।	अंक-2, पृ. 46

ऊपरलिखित उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि अविमारकम् में प्राकृत के अव्यय-प्रयोगों में अधिकांश स्थलों पर आचार्य हेमचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट अव्ययों का ही प्रयोग हुआ है। परन्तु प्राकृत के इन अव्यय-प्रयोगों में कुछ उदाहरण ऐसे भी उपलब्ध होते हैं जिनका उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र से लगभग 6 शताब्दी पूर्व²⁴ वररुचि विरचित 'प्राकृतप्रकाश' में हुआ है। प्राकृत भाषा निरन्तर विस्तार को प्राप्त होती रही है। इसी कारण एतद् विषयक अनेक व्याकरण-ग्रन्थों की भी समय-समय पर रचना होती रही है। यही कारण है कि अविमारकम् में प्राकृत के अव्ययों में ऐसे भी प्रयोग उपलब्ध होते हैं जिनका उल्लेख चौदहवीं शती के लेखक त्रिविक्रम ने अपने ग्रन्थ 'प्राकृतव्याकरणवृत्ति' तथा सत्रहवीं शती के आचार्य मार्कण्डेय ने भी अपने ग्रन्थ 'प्राकृतसर्वस्व' में किया है। ऊपरलिखित प्रयोगों में अधिकांश अव्यय ऐसे हैं जिनका निर्देश हेमचन्द्राचार्य ने महाराष्ट्री प्राकृत के सन्दर्भ में किया है परन्तु णं²⁷ तथा ही ही²⁸ अव्यय ऐसे हैं जिनका उल्लेख शौरसेनी प्राकृत के सन्दर्भ में किया गया है।

अविमारकम्, रचयिता - महाकवि भास, व्याख्याकार - आचार्य रामचन्द्र मिश्र,
प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1962

1. अभिनव प्राकृत - व्याकरण, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 148, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1963।
2. वही
3. सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥
वैयाकरण - सिद्धान्तकौमुदी, प्रथमो भागः, अव्ययप्रकरणम्, पृ, 569, रचयिता - श्री भट्टोजिदीक्षित, व्याख्याकार - श्री गोपालदत्त पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, 1996।
4. अभिनव प्राकृत - व्याकरण, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. 213।
5. स्वरादिनिपातमव्ययम्।
अष्टाध्यायी, 1.1.37, रचयिता - पाणिनी, परिष्कर्ता - म.म. पण्डितराज डॉ. श्री गोपाल शास्त्री 'दर्शनकेसरी', प्रकाशक - चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1976।
6. तद्धितश्चासर्वविभक्तिः।
वही, 1.1.38
7. कृन्मेजन्तः।
वही, 1.1.39
8. अव्ययीभावश्टच।
वही, 1.1.41
9. अव्ययम्।
प्राकृत - व्याकरण, 8.2.175; अधिकारोयम्, इतः परं ये वक्ष्यन्ते आ पादसमाप्ते स्तेव्ययसंज्ञा ज्ञातव्याः।
● वही, 8.2.175 पर वृत्ति, रचयिता - श्री हेमचन्द्र, प्रकाशक - भण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1980।
● प्राकृत व्याकरण, सिद्धहेमशब्दानुशासन का आठवाँ अध्याय, रचयिता - श्री हेमचन्द्र, संपादक - डॉ. के.वा. आप्टे, प्रकाशक - चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1996।

10. किरेर हिर किलार्थे वा।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.2.186
11. इरकिरकिला अनिश्चयाख्यानेषु। प्राकृतप्रकाशः, 8.6, रचयिता - वररुचि, कुलपतेः
डॉ. मण्डनमिश्रस्य प्रस्तावनया समलङ्कृत, संपादक - आचार्य बलदेव उपाध्याय,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, 1996
12. आम अभ्युपगमे।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.2.177
13. एवार्थे एव्व।
प्राकृतव्याकरणवृत्तिः, 3.2.18, सम्पादक - पण्डित जगन्नाथ शास्त्री, साहित्याचार्य,
प्रकाशक - चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस, संवत् 2007।
14. मामि हला हले सख्या वा।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.2.195
15. अम्मो आश्चर्ये।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.2.208
16. मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.2.182
17. थू कुत्सायाम्।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.2.200
अविमारकम्, चतुर्थोऽङ्कः, पृ. 117
18. हद्धि खेदानुतापयोः।
प्राकृतसर्वस्वम्, 8.8, रचयिता - मार्कण्डेय, संपादक - डॉ. कृष्णचन्द्र आचार्य, प्रकाशक
- प्राकृत टैक्सट सोसायटी, अहमदाबाद-9, सन् 1968।
19. हद्धी निर्वेदे।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.2.192
20. हु खु निश्चयवितर्कसंभावनविस्मये।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.2.198

21. णं नन्वर्थे।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.4.283;
शौरसेन्यां नन्वर्थे णमिति प्रयोक्तव्यः। वही, 8.4.283 पर वृत्ति।
22. प्यादयः।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.2.218;
पि वि अप्यर्थे। वही, 8.2.218 पर वृत्ति।
23. ही ही विदूषकस्य।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.4.285;
शौरसेन्यां ही ही इति विदूषकाणां हर्षे द्योत्ये प्रयोक्तव्यः। वही, 8.4.285 पर वृत्ति।
24. वररुचि तथा हेमचन्द्र के बीच लगभग 6 शताब्दियों का व्यवधान है।
प्राकृतप्रकाशः, प्रस्तावना, पृ. 32
25. वही, पृ. 34
26. वही, पृ. 30
27. णं नन्वर्थे।
प्राकृत - व्याकरणम्, 8.4.283
28. ही ही विदूषकस्य।
वही, 8.4.285

1/4, टीचर्स कॉलोनी

समर हिल

शिमला-171005



‘पउमचरिउ’ में संज्ञा शब्दों के प्रयुक्त पर्यायवाची शब्द

- श्रीमती सीमा ढींगरा



मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए उसे अपने मन के भावों या विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए या दूसरों के विचारों या भावों को ग्रहण करने के लिए भाषा की आवश्यकता होती है।

भारतीय आर्यभाषाओं की शृंखला में ‘अपभ्रंश’ का स्थान एक ओर प्राकृत तथा दूसरी ओर हिन्दी आदि आधुनिक आर्यभाषाओं को जोड़नेवाली कड़ी के रूप में है। इसी से आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ है।

किसी भी भाषा की अभिवृद्धि में शब्दों के पर्यायवाची का बहुत महत्व होता है। वस्तुतः वे शब्द भाषा के विपुल वैभव को प्रकट करते हैं। एक ही अर्थ के वाचक अनेक शब्द जिनका समान भाव हो पर्यायवाची शब्द कहलाते हैं। प्रस्तुत लेख में महाकवि स्वयंभू के ‘पउमचरिउ’ में संज्ञा शब्दों के प्रयुक्त पर्यायवाची शब्द दिये जा रहे हैं।

‘स्वयंभू’ को अपभ्रंश भाषा का प्रथम महाकवि होने का श्रेय प्राप्त है। अब तक ज्ञात एवं प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में स्वयंभू ही सबसे प्राचीन कवि हैं, इसलिए साहित्य जगत में ‘स्वयंभू’ अपभ्रंश के आदिकवि माने जाते हैं। स्वयंभू रचित काव्यों में ‘पउमचरिउ’ रामकथात्मक काव्य है। पउमचरिउ की भाषा साहित्यिक, पाण्डित्यपूर्ण और प्रांजल है। ‘पउमचरिउ’ में संज्ञा शब्दों के प्रयुक्त पर्यायवाची

शब्दों के प्रस्तुत संकलन से भाषा की शब्द-संपदा का पता चलेगा। साथ ही काव्य-रचना में मदद मिलेगी।

यहाँ पर प्रारंभ में हिन्दी शब्द व उनके सामने 'पउमचरिउ' में प्रयुक्त पर्यायवाची अपभ्रंश शब्द, उनके लिंग व प्रसंग दिये जा रहे हैं -

1. अनुचर	किङ्कर (पु.) (22.3.5)	भिच्च (पु.) (30.9.4)
	करिल्ल (पु.) (79.12.8)	
2. आँख	अक्ख (नपुं.) (1.6.7)	चक्खु (पु. नपुं.) (1.12.4)
	अच्छि (स्त्री.) (1.14.2)	जोयण (नपुं.) (9.11.6)
	णेत्त (पु. नपुं.) (2.1.घ.)	णयण (पु.) (2.9.1)
	लोयण (पु. नपुं.) (9.11.6)	गो (स्त्री.) (26.10.10)
3. आकाश	गयण (नपुं.) (1.5.2)	णहयल (पु.) (1.9.7)
	आयास (पु.नपुं.) (1.11.2)	णह (पु.) (1.16.3)
	णहङ्गण (नपुं.) (3.9.4)	अम्बर (नपुं.) (13.1.1)
	अब्भ (नपुं.) (28.11.3)	गउण (नपुं.) (18.2.9)
4. आग	धूमद्धय (पु.) (1.15.8)	हुअवह (पु.) (2.5.1)
	सिहि (पु.) (2.11.घ.)	अग्गि (पु. स्त्री.) (3.2.2)
	हुआसण (पु.) (3.8.6)	जलण (पु.) (4.6.1)
	हुआस (पु.) (5.2.7)	हवि (पु. नपुं.) (15.3.5)
	वइसाणर (पु.) (44.13.6)	चुण्णुगध (नपुं.) (81.10.5)
5. इन्द्र	इन्द (पु.) (1.14.1)	अमरिन्द (पु.) (2.1.6)
	सुरवइ (पु.) (2.1. घ)	सहसक्ख (पु.) (2.6.2)
	दससयणेत्त (पु.) (2.6.5)	अमरेसर (पु.) (5.6.7)
	पुरन्दर (पु.) (8.7.घ)	अमराहिव (पु.) (8.10.1)
	वासव (पु.) (9.2.1)	आखण्डल (पु.) (17.14.4)
	सुरिन्द (पु.) (22.8.6)	
6. उद्यान	उज्जाण (नपुं.) (26.5.10)	उववण (नपुं.) (26.6.1)
	आराम (पु.) (90.6.4)	
7. ऊँट	करह (पु.) (3.5.3)	उड्ड (पु.) (25.10.8)
8. कथा	कहा (स्त्री.) (1.2.घ.)	कहाणय (पु.) (11.2.1)
9. कमल	कमल (नपुं.) (प्रार.1)	उप्पल (नपुं.) (प्रार.2)
	कन्दोदट (नपुं.) (1.13.8)	कंज (नपुं.) (18.6.1)

	अरविन्द (नपुं.)	(2.17.1)	आरणाल (नपुं.)	(75.17.7)
	पउम (नपुं.)	(3.4.5)	पङ्कय (नपुं.)	(3.6.5)
	सयवत्त (नपुं.)	(6.1.9)	तामरस (नपुं.)	(9.8.6)
	राईव (नपुं.)	(15.7.3)	इन्दीवर (नपुं.)	(27.3.4)
	थेरासण (नपुं.)	(36.14.1)	अंबुरुह (नपुं.)	(22.4.5)
	अंभोय (नपुं.)	(5.16.2)		
10. कामदेव	वम्मह (पु.)	(17.4.घ.)	अणङ्ग (पु.)	(14.7.8)
	मयण (पु.)	(14.7.घ.)	मयरहर (पु.)	(14.7.6),
	मयरद्धय (पु.)	(27.3.घ.)	कुसुमाउह (पु.)	(31.8.4)
	काम (पु.)	(46.2.8)		
11. कुत्ता	साणु (पु.)	(49.18.5)	मण्डल (पु.)	(54.11.1)
12. कौआ	वायस (पु.)	(27.2.6)	बुक्कण (पु.)	(27.15.5)
	विरसउह (पु.)	(36.15.7)	कायल (पु.)	(81.10.3)
13. गर्मी	उण्हाल (पु.)	(28.2.8)	गिम्भ (पुं.)	(28.3.1)
14. गाय	गोला (स्त्री.)	(27.14.5)	गोव (स्त्री.)	(34.11.2)
15. गुफा	कन्दर (नपुं.)	(26.13.1)	गुहा (स्त्री.)	(19.6.6)
16. गोद	अंक (नपुं.)	(2.3.1)	उच्चोलि (स्त्री.)	(9.3.1)
	उच्छंग (नपुं.)	(36.8.5)		
17. घर	गेह (नपुं.)	(1.16.5)	गिहेलण (नपुं.)	(2.17.1)
	णिलउ (पु.)	(3.7.9)	मन्दिर (नपुं.)	(32.1.घ)
	घर (पु. नपुं.)	(2.16.9)		
18. घोड़ा	तुरङ्ग (पु.)	(1.5.4)	तुरङ्गम (पु.)	(2.14.3)
	हय (पु.)	(2.16.3)	हरि (पु.)	(5.4.3)
	तुरय (पु.)	(6.14.3)		
19. चन्द्रमा	चन्द (पु.)	(1.3.घ.)	ससि (पु.)	(1.5.5)
	ससहर (पु.)	(1.6.2)	यन्द (पु.)	(1.15.3)
	मयलज्छण (पु.)	(3.7.घ.)	मियङ्क (पु.)	(20.8.8)
	अमयवाह (पु.)	(25.13.8)	हरिणदेह (पु.)	(40.13.5)
	अमियतणु (पु.)	(27.10.6)	चंड (पु. नपुं.)	(69.5.2)
	सोम (पु.)	(24.14.7)	चंदमस (पु.)	(15.11.07)
	णिसायर (पु.)	(13.12.9)		

20. जंगल	अरण्य (नपुं.) (5.4.2)	काणण (नपुं.) (19.13.2)
	वण (नपुं.) (19.15.घ.)	रणण (नपुं.) (28.7.8)
21. जल	सलिल (पु. नपुं.) (1.4.8)	णीर (नपुं.) (1.6.5)
	जल (नपुं.) (14.3.2)	वारि (नपुं.) (14.13.7)
	अंभ (नपुं.) (14.12.3)	अब्भ (पु.) (11.1.5)
	वाणिअ (नपुं.) (54.12.4)	तोय (नपुं.) (4.10.6)
22. जनक	जणय (पु.) (21.1.7)	पुरन्दर-राय (पु.) (21.10.5)
(मिथिलानरेश)	मिहिला-णाह (पु.) (21.10.10)	
23. जन्म	जम्म (पु. नपुं.) (प्रार.4)	जाइ (स्त्री.) (1.9.5)
24. तलवार	खग (पु.) (7.8.घ.)	असि (पु.) (36.3.6)
	करवाल (पु.) (36.10.8)	मण्डलग (पु. नपुं.) (37.2.3)
25. तोता	कीर (पु.) (11.14.4)	सुय (पु.) (14.2.3)
26. दशरथ	दसरह (पु.) (21.1.7)	दससन्दण (पु.) (21.3.3)
27. दिन	दिण (पु.नपुं.) (प्रार.2)	दियह (पु.) (22.2.1)
	दिवस (पु.) (22.3.1)	वासर (पु.नपुं.) (5.16.4)
28. दुःख	दुक्ख (पुं.) (1.1.6)	वेयण (नपुं.) (5.13.6)
	संताव (पु.) (40.1.1)	दुह (पु.) (7.10.2)
29. देवता	सुर (पु.) (प्रार.1)	देव (पुं.) (1.1.17)
	गिब्वाण (पु.) (1.16.4)	देवय (पु.) (6.9.8)
30. धन	धण (नपुं.) (2.16.4)	दव्व (पु. नपुं.) (7.12.8)
	वित्त (नपुं.) (13.1.4)	अत्थ (पु.) (22.3.3)
31. धनुष	चाव (पु.) (21.12.2)	धणु (पु. नपुं.) (21.12.7)
	सरासण (पु.) (21.12.घ.)	धणुहर (पु.) (21.7.6)
32. धरती/ पृथ्वी	खेत्त (पु. नपु.) (4.13.8)	थल (नपुं.) (6.11.6)
	रसायल (8.9.8)	महीयल (पु.) (3.13.घ.)
	अवणीयल (पु.) (19.18.1)	धरित्ति (स्त्री.) (85.4.2)
	पिहिमि (स्त्री.) (1.4.घ.)	महि (स्त्री.) (1.5.घ.)
	वसुन्धरा (स्त्री.) (1.8.3)	धरणि (स्त्री.) (1.10.2)
	पुहइ (स्त्री.) (3.13.1)	मेइणि (स्त्री.) (3.13.7)
	महिवीढ (पु.) (4.5.3)	खोणि (स्त्री.) (5.10.घ)
	इला (स्त्री.) (6.5.2)	एला (स्त्री.) (87.14.2)
	पिहिवि (स्त्री.) (1.4.9)	पुढवि (स्त्री.) (35.12.घ.)

33. ध्वनि	झुणि (स्त्री)	(प्रार.1)	झङ्कार (स्त्री.)	(7.2.3)
34. नगर	पट्टण (नपुं.)	(2.2.2)	णयर (नपुं.)	(2.2.5)
	पुर (नपुं.)	(5.5.8)		
35. नदी	णइ (स्त्री.)	(1.2.1)	सरि (स्त्री.)	(1.2.6)
	वाहिणी (स्त्री.)	(77.2.6)		
	जलवाहिणी(स्त्री.)	(5.12.6)	सरिया (स्त्री)	(6.3.3)
36. नारद	पिसुण (पु.)	(16.6.2)	णारय (पु.)	(16.9.1)
37. नाव	णावा (स्त्री.)	(37.9.2)	तरण्डय (पु. नपुं.)	(24.8.7)
	वोहित्थ (नपुं.)	(69.3.8)		
38. पक्षी	सउण (पु.)	(1.1.8)	विहङ्गम (पु.)	(3.5.3)
	विहय (पु.)	(23.12.4)	विहङ्ग (पु.)	(33.6.घ)
	पक्खि (पु. स्त्री.)	(35.3.2)		
39. पति	भत्तार (पु.)	(9.1.8)	दइअ (पु.)	(39.10.4)
	पइ (पु.)	(42.1.2)	कन्त (पु.)	(49.19.घ.)
	भत्तार (पु.)	(50.10.8)		
40. पत्नी	धणा (स्त्री.)	(36.6.2)	पत्तिय (स्त्री.)	(30.11.9)
	दार (पु. स्त्री.)	(18.10.8)	कलत्त (नपुं.)	(2.16.घ.)
	भज्जा (स्त्री.)	(24.5.घ.)	दइया (स्त्री.)	(73.13.6)
	गेहिणि (स्त्री.)	(41.14.घ.)	घरिणि (स्त्री.)	(37.2.9)
41. पर्वत	गिरि (पु.)	(1.6.4)	महीहर (पु.)	(1.7.6)
	पव्वय (पु. नपुं.)	(1.11.6)	मंदर (पु.)	(2.14.7)
	इरि (पु.)	(3.8.7)	मेरु (पु.)	(5.1.6)
	सेल (पु.)	(7.10.घ.)	सिहरि (पु.)	(12.8.6)
	सइल (पु.)	(12.8.6)	खडक्क (पु.)	(43.17.8)
42. पिता	वप्प (पु.)	(3.9.6)	जणेर (पु.)	(4.13.2)
	जणण (पु.)	(5.6.2)	ताअ (पु.)	(7.11.4)
	जणअ (पु.)	(21.4.1)		
43. पुत्र	पुत्त (पु.)	(1.16.1)	णन्दण (पु.)	(4.2.6)
	सुअ (पु.)	(6.10.2)	तणअ (पु.)	(11.12.1)
	अगज (पु.)	(86.18.3)	सुव (पु.)	(7.1.प्रार.)
44. पुत्री	उत्ती (स्त्री.)	(5.13.घ.)	दुहिया (स्त्री.)	(6.2.3)
	पुत्ति (स्त्री.)	(9.1.8)	धीया (स्त्री.)	(9.2.5)

	णन्दणी (स्त्री.) (10.1.5)	तणया (स्त्री.) (15.9.5)
	सुया (स्त्री.) (21.4.4)	धी (स्त्री.) (8.6.11)
45. पेड़	तरु (पु.) (1.1.8)	पायय (पु.) (3.1.घ)
	दुम (पु.) (3.7.1)	विडवि (पु.) (20.2.3)
	रुक्ख (पु. नपुं.) (11.3.7)	वच्छ (पु.) (29.5.1)
	पायव (पु.) (19.12.1)	
46. पैर	पाय (पु.) (प्रार.1)	चलण (पु.) (1.5.घ.)
	कम (पु.) (1.15.घ.)	पय (पु. नपुं.) (9.7.2)
	चरण (नपुं.) (2.2.9)	
47. प्रभात	सुविहाणय (पु.) (1.15.9)	विहाणय (पु.) (14.1.प्रार.)
	सुप्पहाय (नपुं.) (14.1.1)	गोस (पु.) (70.6.3)
48. फूल	पुप्फ (नपुं.) (1.12.घ.)	कुसुम (नपुं.) (1.15.3)
	(फुल्ल) (नपुं.) (3.6.4)	
49. बंदर	पवङ्गम (पु.) (3.5.4)	वाणर (पु. नपुं.) (5.1.प्रार.)
	कइ (पु.) (6.9.1)	साहामय (पु.) (6.9.3)
	मक्कड (पु.) (6.10.7)	पमय (पु.) (6.11.3)
	वन्नर (पु.) (7.4.6)	
50. बहिन	ससा (स्त्री.) (5.5.3)	भइणि (स्त्री.) (12.12.1)
	बहिणि (स्त्री.) (33.11.1)	
51. बादल	घण (पु.) (2.1.2)	मेह (पु.) (2.5.घ.)
	जलहर (पु.) (6.3.5)	धाराहर (पु.) (10.1.घ.)
	अम्बुहर (पु.) (27.4.1)	अब्भ (नपुं.) (11.1.5)
	वराहव (पु.) (72.14.6)	जलअ (पु.) (27.2.4)
52. बाल	चिहुर (पु.) (10.3.8)	केस (पु.) (11.6.1)
53. बालक	सावअ (पु.) (19.8.9)	बाल (पु.) (24.5.2)
	डिम्भ (पु.) (24.13.8)	सिसु (पु.) (10.9.4)
54. बैल	वल (पु.) (27.1.7)	विसह (पु.) (27.2.3)
	अणडुह (पु.) (30.7.6)	गोण (पु. स्त्री.) (56.15.4)
	बइल्ल (पु.) (39.8.10)	
55. भँवरा	महुयर (पु. स्त्री.) (5.14.8)	अलि (पु.) (6.5.7)
	छप्पय (पु.) (6.6.4)	भसल (पु.) (10.3.1)

	इन्दिन्दिर (पु.)	(13.7.4)	धुअगाय (पु.)	(5.12.3)
	फुल्लन्धअ (पु.)	(7.13.5)	सिलीमुह (पु.)	(49.9.4)
56. भोजन	भोयण (नपुं.)	(25.11.1)	अण्ण (नपुं.)	(25.11.2)
	आहार (पु.)	(50.10.8)	भोज्ज (नपुं.)	(50.10.9)
	पारणा (नपुं.)	(50.10.घ.)	आसण (नपुं.)	(25.11.6)
57. मछली	झस (पु.)	(1.15.4)	मच्छ (पु.)	(31.3.2)
	मीण (पु.)	(33.12.8)		
58. मन	चित्त (नपुं.)	(36.5.घ.)	मण (पु. नपुं.)	(36.12.7)
59. मनुष्य	जण (पु.)	(1.5.घ.)	णर (पु.)	(1.7.8)
	माणव (पु.)	(1.14.1)	माणुस (पु.)	(21.11.8)
60. माँ	जणणी (स्त्री.)	(1.10.घ)	जणेरि (स्त्री.)	(7.12.घ.)
	मायरि (स्त्री.)	(9.6.4)		
61. मित्र	मित्त (पु.)	(6.4.घ.)		
62. मुह	वयण (पु. नपुं.)	(प्रार.1)	मुह (नपुं.)	(1.2.1)
	आणण (नपुं.)	(5.5.6)	आस (नपुं.)	(14.13.7)
	जम्पण (नपुं.)	(25.19.1)		
63. मोक्ष	मोक्ष (पु.)	(प्रार.3)	सिव (पु. नपुं.)	(1.1.11)
	णिव्वाण (नपुं.)	(5.10.2)		
64. मृत्यु	मरण (नपुं.)	(11.12.9)	मिच्चु (पु.)	(11.10.8)
	मित्तु (पु.)	(86.17.4)		
65. युद्ध	समर (पु. नपुं.)	(1.10.4)	रण (पु. नपुं.)	(1.12.2)
	जुज्झ (नपुं.)	(4.5.घ.)	संगाम (पु.)	(16.8.8)
	भण्डण (नपुं.)	(27.2.6)	आहयण (नपुं.)	(41.15.घ.)
	आहव (पु.)	(8.7.2)	जुज्झण (नपुं.)	(12.8.9)
66. रथ	सन्दण (पु.)	(16.9.3)	सयड (पु. नपुं.)	(16.14.5)
	रह (पु. नपुं.)	(17.1.1)		
67. राजा	णरवइ (पु.)	(1.6.1)	पहु (पु.)	(1.12.1)
	णराहिअ (पु.)	(1.12.7)	णिव (पु.)	(2.12.2)
	राणा (पु.)	(2.15.5)	णरवर (पु.)	(3.10.2)
	राय (पु.)	(4.3.8)	णरिन्द (पु.)	(4.10.2)
	णिवइ (पु.)	(9.2.4)	णराहिव (पु.)	(19.16.5)
68. राज्य	रज्ज (नपुं.)	(6.15.घ.)		

69. रात	रत्ति (स्त्री.) (10.7.5)	रथणि (स्त्री.) (7.13.1)
	णिसि (स्त्री.) (13.12.5)	विडिरिल्ला (स्त्री.) (37.1.4)
	सव्वरी (स्त्री.) (58.11.8)	
70. राम	बलएव (पु.) (21.1.3)	रामचन्द (पु.) (21.4.घ.)
	राम (पु.) (21.6.3)	राहव (पु.) (21.7.7)
	राहवचन्द (पु.) (23.6.1)	वलहद्द (पु.) (26.4.4)
	वल (पु.) (26.4.घ.)	हलहर (पु.) (26.14.घ.)
	सीराउह (पु.) (27.1.घ.)	हलहेइ (पु.) (27.4.घ.)
	हलाउह (पु.) (27.7.8)	जाणइ-कन्त (पु.) (45.14.2)
	सीरप्पहरणु (पु.) (45.15.1)	
71. रावण	दसाणण (पु.) (9.3.6)	रामण (पु.) (9.3.घ.)
	दहमुह (पु.) (9.4.घ.)	दहसिर (पु.) (9.4.घ.)
	रावण (पु.) (9.6.घ.)	दहवयण (पु.) (10.1.प्रार.)
	दहगीव (पु.) (10.2.3)	दसास (पु.) (11.11.7)
	दससिर (पु.) (12.7.3)	लङ्केसर (पु.) (20.2.घ.)
	वीसपाणि (पु.) (38.18.1)	णिसिन्द (पु.) (42.4.1)
	णिसियर-णाह(पु.) (52.10.घ.)	
72. लकड़ी	लउडि (नपुं.) (17.6.5)	लक्कुडि (नपुं.) (11.6.4)
73. लक्ष्मण	वासुएव (पु.) (21.1.3)	सुमिति (पुं.) (21.4.घ.)
	लक्खण (पु.) (21.6.3)	सोमिति (पु.) (23.5.5)
	जणद्दण (पु.) (26.4.1)	हरि (पु.) (26.14.1)
	णारायण (पु.) (26.4.घ.)	सारङ्गधर (पु.) (26.13.1)
	कण्ह (पु.) (26.19.8)	महुमहण (पु.) (27.5.1)
	लच्छिगेह (पु.) (29.10.8)	सिरिहर (पु.) (29.11.1)
	अणन्तवीर (पु.) (30.6.8)	गोविन्द (पु.) (31.11.6)
	दामोयर (पु.) (32.2.7)	
74. वचण/ वाणी	वाया (स्त्री.) (18.4.8)	वक्क (पु.) (1.6.7)
	वयण (नपुं.) (4.3.5)	गिरा (स्त्री.) (9.14.6)
75. शरीर	काय (पु.) (प्रार. घ.)	देह (पु.) (1.9.4)
	गत्त (नपुं.) (1.2.11)	सरीर (पु.) (1.6.5)
	कलेवर (पु.) (86.10.11)	तणु (नपुं.) (41.1.घ.)
	गाय (नपुं.) (5.12.3)	

76. शस्त्र	आउह (पु.)	(36.5.7)		
77. शत्रु	रिउ (पु.)	(1.1.4)	पडिवक्ख (पु.)	(2.6.2)
	वइरि (पु.)	(6.1.9)	सत्तु (पु.)	(7.9.6)
	अरि (पु.)	(13.12.2)	अराइ (पु.)	(16.14.3)
78. शेर	हरि (पु.)	(1.6.3)	पञ्चमुह (पु.)	(1.15.2)
	पञ्चाणण (पु.)	(3.8.8)	केसरि (पु.)	(3.10.8)
	सीह (पु.)	(4.2.घ.)	मइन्द (पु.)	(7.6.1)
	मयाहिवइ (पु.)	(19.7.6)	हरिणाहिवइ (पु.)	(19.7.घ.)
	हरिवर (पु.)	(20.19.6)	सिङ्ग (पु.)	(3.5.5)
79. संसार	संसार (पु.)	(1.1.1)	भव (पु.)	(1.1.6)
	जग (नपुं.)	(1.7.घ.)	लोअ (पु.)	(1.11.4)
	भुवण (नपुं.)	(1.16.घ.)	जअ (नपुं.)	(8.11.6)
80. समुद्र	समुद्द (पु.)	(1.1.1)	सायर (पु.)	(1.6.5)
	मयरहर (पु. नपुं.)	(1.10.6)	जलणिहि (पु.)	(1.15.6)
	उवहि (पु.)	(2.10.5)	महोवहि (पु.)	(3.3.7)
	रयणायर (पु.)	(3.8.3)	महण्णव (पु.)	(17.2.घ.)
81. साँप	अहि (पु.)	(2.12.4)	भुअङ्ग (पु.)	(5.12.घ.)
	सप्प (पु. स्त्री.)	(7.11.5)	विसहर (पु.)	(8.3.1)
	पण्णय (पु.)	(9.3.घ.)	उरअ (पु. स्त्री.)	(10.12.4)
	भुयङ्गम (पु.)	(13.2.2)	फणि (पु.)	(19.3.4)
	उरग (पु. स्त्री.)	(27.10.7)		
82. सियार	सिव (पु.)	(27.2.6)	सिवाल (पु.)	(9.11.2)
	जंबुव (पु.)	(32.10.2)	जंबू (पु.)	(38.10.6)
83. सिर	सिर (नपुं.)	(प्रार. 1)	उत्तमङ्ग (नपुं.)	(1.8.11)
	मत्थ (पु.नपुं.)	(1.8.घ)	सीस (पु.नपुं.)	(2.6.4)
	णिडाल (नपुं.)	(8.9.1)		
84. सीता	सीया (स्त्री.)	(21.8.घ)	वइदेहि (स्त्री.)	(21.14.5)
	जाणइ (स्त्री.)	(22.6.6)	सीयाएवि (स्त्री.)	(23.6.2)
	जणय-सुआ (स्त्री.)	(27.3.5)		
85. सुग्रीव	सुग्रीव (पु.)	(43.1.2)	सुग्रीउ (पु.)	(43.1.प्रा.)
	किक्किन्धाहिवइ (पु.)	(43.3.1)		

86. सूर्य	तरणि (पु.)	(1.4.2)	दिणयर (पु.)	(1.6.3)	
	सूर (पु.)	(1.16.8)	अक्क (पु.)	(19.16.1)	
	अरुण (पु.)	(20.9.7)	आइच्च (पु.)	(23.7.6)	
	हंस (पु.)	(30.7.5)	तवण (पु.)	(35.10.घ.)	
	भक्खर (पु.)	(45.8.9)	दिवसयर (पु.)	(15.3.9)	
	भाणु (पु.)	(10.11.8)	मित्त (पु.)	(86.16.2)	
87. सेना	बल (नपुं.)	(4.8.घ.)	साहण (नपुं.)	(4.9.3)	
	सेणण (स्त्री नपुं.)	(6.2.8)	वरूहिणी (स्त्री.)	(21.8.1)	
88. सेवक	भिच्च (पु.)	(26.2.घ.)	पाइक्क (पु.)	(26.3.1)	
	किङ्कर (पु.)	(22.3.5)			
89. सोना (स्वर्ण)	कणय (नपुं.)	(1.4.घ.)	कञ्चण (पु.)	(1.5.8)	
	सुवणण (नपुं.)	(2.16.4)	हेम (नपुं.)	(3.4.4)	
	चामीयर (नपुं.)	(7.2.2)	कलहोय (नपुं.)	(48.10.6)	
90. स्वप्न	सिविणय (पु. नपुं.)	(19.1.9)	सुविण (पु. नपुं.)	(1.14.घ.)	
	सोवण (नपुं.)	(16.3.5)			
91. स्त्री	तिरिय (स्त्री.)	(1.8.12)	तिया (स्त्री.)	(1.10.3)	
	णारी (स्त्री.)	(1.10.घ.)	कलत्त (नपुं.)	(2.16.घ.)	
	कन्ता (स्त्री.)	(19.5.4)	दार (पु. नपुं.)	(18.10.8)	
	इत्ति (स्त्री.)	(77.18.1)	भामिणी (स्त्री.)	(89.6.6)	
92. हनुमान	मारुइ (पु.)	(19.11.4)	सुन्दरु (पु.)	(19.11.घ.)	
	सिरिसइलु (पु.)	(19.11.घ.)	हणुवन्त (पु.)	(19.11.घ.)	
	पवणञ्जय-	(43.7.2)	पवणजाउ (पु.)	(43.8.1)	
	णन्दण (पु.)				
	हणुअ (पु.)	(43.11.3)	समीरण णन्दण (पु.)	(45.5.1)	
	अणिल पुत्त (पु.)	(45.10.1)	पहञ्जणि (पु.)	(48.11.1)	
	अंजणेउ (पु.)	(50.5.1)	पावणि (पु.)	(52.2.घ.)	
	मारुव - सुअ (पु.)	(52.10.5)			
	93. हरिण	मिग (पु.)	(3.5.2)	सारङ्ग (पु.)	(3.5.4)
		कुरङ्ग (पु.)	(10.9.1)		
94. हृदय	हियअ (नपुं.)	(प्रार. 2)	उरयल (पु.)	(10.3.5)	

95. हवा	पवण (पु.)	(1.4.4)	मरु (पु.)	(1.5.2)
	मारुअ (पु.)	(1.6.6)	वाउ (पु.)	(2.17.6)
	वाय (पु.)	(3.7.1)	समरिण (पु.)	(3.8.7)
96. हाथ	पाणि (पु.)	(8.5.8)	हत्थ (पु. नपुं.)	(13.11.घ.)
	कर (पु.)	(15.3.7)		
97. हाथी	गअ (पु.)	(1.5.4)	कुञ्जर (पु.)	(1.6.4)
	हत्थि (पु. स्त्री.)	(4.1.3)	वारण (पु.)	(4.8.2)
	करि (पु.)	(10.10.3)	तम्बरेम (पु.)	(11.5.5)
	गइन्द (पु.)	(11.7.3)	णाअ (पु.)	(16.4.6)
	कुम्भि (पु.)	(20.2.3)	दंति (पु.)	(8.1.4)

1. पउमचरिउ (हिन्दी अनुवादसहित) - सं. - डॉ. एच.सी. भायाणी, अनु. - डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
2. पउमचरिउ (मूल) - सं. डॉ. एच.सी. भायाणी, प्रकाशक - सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, मुम्बई
3. अपभ्रंश हिन्दी कोश - डॉ. नरेशकुमार, डी. के. प्रिंटवर्ल्ड (प्रा.) लि., दिल्ली

अपभ्रंश साहित्य अकादमी
जयपुर



पं. जोगदेव कृत
श्री मुणिसुव्रतानुप्रेक्षा

- श्रीमती शकुन्तला जैन



मंगलाचरण

णविवि चलण मुणिसुव्वयहो।¹
 सुर-नर-खयर-महोरग महियहो सयल विमल केवलगुण सहियहो।
 वारह अणुवेखउ भणमि।
 भव्वयणह णयण-विणए-सहियहो
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो² ॥1॥

अनित्य-भावना

जीविउ ऊसाविंदु समाणउ जोवणु सुरधणु अणुहर माणउ।
 संपड गिरिणइवेय समाणउ¹ चंचलजीविउ विहउ असारउ।
 सुयणा समागमु पुणु अथिरु जाणिवि करहु धम्मुदयसारउ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥2॥

पं. जोगदेव कृत श्री मुणिसुव्रतानुप्रेक्षा

- श्रीमती शकुन्तला जैन



मंगलाचरण

मंगलाचरण-स्वरूप रचना के आदि में रचनाकार पण्डित जोगदेव कहते हैं कि -

अर्थ - मैं देवताओं, मनुष्यों, विद्याधरों और नागेन्द्रों से पूजित, सम्पूर्ण विशुद्ध (निर्मल), केवलज्ञान गुण से समन्वित, विनय सहित नेत्रों से मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके भव्यजनों के लिए बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ ॥1॥

अनित्य-भावना

अर्थ - जीवन, ओस की बूँद के समान (क्षणभंगुर) है। यौवन को इन्द्रधनुष का अनुकरण करने वाला मानो (जिस तरह इन्द्रधनुष शाश्वत नहीं है उसी तरह यौवन शाश्वत नहीं है) संपत्ति, पर्वत से (गिरती हुई) नदी के प्रवाह-वेग के समान (है) जीवन चंचल (अस्थिर है) और वैभव असार (है) फिर सज्जनों का समागम अस्थिर है (यह) जानकर श्रेष्ठ दयारूपी धर्म को धारण कर (करो)। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥2॥

अशरण-भावना

धरिवि¹ णियत्तइ बहुधण-धण्णइं हय-गय-रह-मणिरयण-सुवण्णइं ।
 पुत्त-कलत्तइं वंधवइ वाहुडंति पिउवणहु वियाणिवि ।
 सुकिउ-दुकिउ जं किंपि किउ तं परिसरिउ² जाइवि³ णियाणिं ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो⁴ ॥3॥

अशरण-भावना

मे घरु मे धणु मे सुहिसयणइ मे गय मे मय मे रह ।
 मे मणिरयणइं मे भंडारइ मणहरइ मे मे मे करंतु घर पडियउ ।
 किंपि न चेयइ मूढमइ मिच्छामोह कसाएं जडियउ ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥4॥

संसार-भावना

अज्जु कल्लि परुप्परहं¹ परारिहं² चिंतइ यहु जिउ धुव संसारहं ।
 वहु वियप्प-संकप्परउ आस-सहासहिं अत्थि³ वालो ।
 जिम मच्छह तिम माणुसहं पडइ अचिंतितु मछइ जालु ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥5॥

एकत्व-भावना

पाउ कुडुंव-कज्जि जं¹ किज्जइ² तं इक्कल्लइ³ सव्व⁴ सहिज्जइ ।
 जहिं जहिं जोणिहि जाइ जिउ तहि तहि नवउ कुडुंवु उपज्जइ ।
 तहु कारणि भणु कें⁵ तिरयह⁶ वहु आरंभ परिग्गहु किज्जइ ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥6॥

अशरण-भावना

अर्थ - प्रचुर धन-धान्यादि, घोड़े, हाथी, रथ, मणीरत्न, सुवर्णादि, पुत्र, स्त्री, बंधु-बांधवादि को चलाते हुए (भी इन सबको) श्मसान के समान जानकर निवृत्ति धारण करके (जो) कुछ भी पुण्य कर्म, पाप कर्म किया गया है उस कारण को जानकर खिसक गया। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥3 ॥

अशरण-भावना

अर्थ - मेरा घर, मेरा धण, मेरे मित्र और स्वजन, मेरे हाथी, मेरे हरिण, मेरे रथ, मणिरत्न, मेरे मन को आकर्षित करनेवाले, मेरे भण्डार, (इस प्रकार) मेरा, मेरा, मेरा करता हुआ घर में पड़ा रहता है। मिथ्यात्व, मोह और कषायों से जड़ा हुआ मूर्खबुद्धि ! कुछ भी नहीं जानता है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥4 ॥

संसार-भावना

अर्थ - इस संसार का जीव परस्पर में निश्चय से आज (की), कल (की) और पराये (अपने से भिन्न दूसरे) की चिंता करता है, अनेक विकल्पों व संकल्पों में अनुरक्त (रहता है)। यह अज्ञानी जीव हजारों आशाओं में स्थित रहता है। जिस प्रकार मछली सहसा मछली-जाल में गिरती है वैसे ही मनुष्य (सहसा संसार रूपी सागर में) गिरता है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥5 ॥

एकत्व-भावना

अर्थ - कुटुम्ब के लिए जो पापपूर्ण कार्य किया जाता है वह अकेला ही सब सहा जाता है। जीव जिस-जिस योनि में जाता है उस-उस योनि में नये कुटुम्ब में उत्पन्न होता है। तिर्यच कौन (होता है) उसका कारण कहो। बहुत आरम्भ व परिग्रह (जिसके द्वारा) किया जाता है (वह तिर्यच होता है)। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥6 ॥

अन्यत्व-भावना

मेइणि सयल दढ दहंति¹ सायरु सोसियउ सयलु² पियंते।
 हड कलेवर संचएण मेरु महागिरि अंतरियउ।
 कलुणु रुवंते³ पियविरहिं अंसुएहि रयणायरु भरियउ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥7॥

अन्यत्व-भावना

जइ लोहह मंजूसहि छज्जइ हय गय जोहहि जइ वि न रुज्जइ।
 हरिहरवंभ पुरंदरहिं वरुण कुवेरह जइ गोविज्जइ।
 तो आसन्नइ मरणुभइ तिहुयणि। केण वि णउ रक्खिज्जइ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥8॥

एकत्व-भावना

एक्कु मरइ इक्कु वि उप्पज्जइ¹ रोय सोय वहु वाहिहिं खिज्जइ।
 इक्कु² भमइ संसारि वणि मूढदिट्ठि³ कम्मवसइ⁴ गुप्पइ⁵।
 इक्कु जि तव तावं⁶ सहइ होइ जीउ णाणिं परमप्पइ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥9॥

एकत्व-भावना

भोयण खाण पाण पावरणइं गंधविलेवण कुसुमाहरणइं।
 आजम्मं¹ वि परिपोसियउ तं ण सरीरु होइ जिय तेरउ।
 क हिवइ रुंभइ वंसु जणु किं ण होइ जिय दुक्ख जणेरउ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥10॥

अन्यत्व-भावना

अर्थ - (यदि) हड्डियों के समूह से बने हुए शरीरों (द्वारा) सम्पूर्ण मजबूत पृथ्वी (भी) जला दी गयी है। पीते हुए जल युक्त सागर सुखा दिया गया है। (ऐसा लगता है मानो) महान सुमेरु पर्वत ही उसके अंतर में स्थित (समाहित) है। प्रियजनों के विरह से करुणापूर्वक रोते हुए आँसुओं (के द्वारा) समुद्र ही भर दिया गया है। (तो भी यह शरीर अपना नहीं बना है अन्य ही रहता है) मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥7 ॥

अन्यत्व-भावना

अर्थ - यदि (आत्मा) लोहे की मंजूसा-पिटारी में शोभित होकर-रहकर भी, घोड़े, हाथी, योद्धाओं के द्वारा (रोकी जाती हुई) भी जो नहीं रोकी जाती। तथा विष्णु, महादेव, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि (छिपाना चाहे) तो भी नहीं छिपायी जाती है। तीनों लोकों में समीपवर्ती मरण-भय से किसी के द्वारा भी रक्षा नहीं की जा सकती है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥8 ॥

एकत्व-भावना

अर्थ - जीव (व्यक्ति) अकेला ही मरता है, अकेला ही उत्पन्न होता है, रोग, शोक और अनेक व्याधियों से दुःखी होता है। मूढदृष्टि (जीव) कर्मवश अकेला ही संसार रूपी जंगल में भ्रमण करता है और व्याकुल होता है। (और) अकेला ही (जीव) तपश्चरणरूपी ताप को सहता है। और (तप के द्वारा) (जीव) ज्ञानी परमात्मा होता है (परमपद को प्राप्त करता है)। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥9 ॥

एकत्व-भावना

अर्थ - हे जीव ! (तूने) भोजन, खान-पान (के द्वारा), वस्त्रादि (के द्वारा), सुगंधित-लेप (के द्वारा) तथा पुष्पाभरणों द्वारा जन्मपर्यन्त (आजन्म ही) इस शरीर का परिपोषण किया गया है तो भी यह शरीर तेरा नहीं है। वंशोत्पत्ति को कैसे रोक सकते हो? क्या जीव दुखोत्पादक नहीं होता है? मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥10 ॥

संसार-भावना

वप्पु मरेवि पुत्तु उप्पज्जइ¹ पुत्तु वि वप्प तणउ पडिवज्जइ।
 जणणि सहोयरि कंत सुया सामि मरेवि भिच्चु उप्पज्जइ²।
 अरि बंधव बंधव अरि जम्मइ³ इय संसार अवत्थ⁴ मुणिज्जइ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥11॥

संसार-भावना

णिच्चेयर जलग्गि मरु खोणिहिं सत्त-सत्त लक्खइ¹ जिय जोणिहिं।
 छह लक्खइ² वियलिंदय³ याणह⁴ चारि-चारि सुर-नारइय⁵-तिरयहं।
 दह रुक्खह चउदह नरहं एम लक्ख चउरासी कहियइ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥12॥

अशुचि-भावना

असुइ सरीरु असुइ संपण्णउ दुग्गंधउ किमिकुल संच्छण्णउ।
 असुइ चिलिच्चिचल¹ देहघरु रसवस सोणिय मंस समिद्धइं।
 णीसारइ षणभंगुरइ केम वियक्खणु² तहि रइवद्धइं।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥13॥

लोक-भावना

वेतासण पवि मंदल आयारउ¹ तलि मज्झहं उप्परि वित्थारउ
 तिहुपवणह परिवेढिय² चउदह रज्जु लोउ दीहत्तें।
 केण वि धरिउ ण णिमियउ सयल वि जीवह भरिउ पयत्तें।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥14॥

संसार-भावना

अर्थ - संसार की स्थिति इस प्रकार जानी जाती है। (यहाँ) बाप (पिता) मरकर पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है और पुत्र भी बाप को पुत्र के रूप में स्वीकार करता है। माता (मरकर) सगी बहिन (के रूप में उत्पन्न होती है), पत्नी (मरकर) पुत्री (का जीव होती है) और स्वामी मरकर सेवक के रूप में उत्पन्न होता है। शत्रु (मरकर) भाई के रूप में और भाई (मरकर) शत्रु के रूप में उत्पन्न होता है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥11॥

संसार-भावना

अर्थ - नित्यनिगोद, इतरनिगोद, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और पृथ्वीकाय प्रत्येक की सात-सात लाख योनियाँ होने से जीव की बियालीस लाख योनियाँ हैं (ये एकेन्द्रिय की योनियाँ हैं)। विकलेन्द्रिय (दो-तीन-चार इन्द्रिय जीवों में) प्रत्येक की दो-दो लाख (योनियाँ होने से छह लाख योनियाँ जानो)। देवगति, नरकगति और तिर्यचगति तीनों में प्रत्येक की चार-चार लाख (कुल बारह लाख), वनस्पतिकाय की दस लाख, और मनुष्यगति की चौदह लाख योनियाँ होने से इस प्रकार चौरासी लाख जीव योनियाँ कही हैं। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥12॥

अशुचि-भावना

अर्थ - दुर्गन्धित कृमि (कीट) समूह से आच्छादित (ढका हुआ) यह शरीर अपवित्र है, अपवित्रता से सम्पन्न है। शरीर रूपी घर अपवित्र आद्रता (मल-मूत्रादि) से युक्त है। यह शरीर रस, चर्बी, रुधिर, मांस से समृद्ध है। यह शरीर सार रहित व क्षणभंगुर है। बुद्धिमान कैसे उस देह के प्रति आसक्ति में बँधा हुआ है? मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥13॥

लोक-भावना

अर्थ - लोक का आकार निचले भाग में बेंत के आसन के समान, मध्य में वज्रासन के समान और ऊपर का विस्तार मृदंग वाद्य के आकार का होता है। यह (घनोदधि, घनवात और तनुवात) तीन वायुमण्डल से परिवेष्टित है। यह चौदह राजू ऊँचा है। यह किसी के द्वारा भी धारण किया हुआ (नहीं है) और न यह किसी के द्वारा स्थापित है। यह सभी जीवों से भरा हुआ प्रवृत्त है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥14॥

लोक-भावना

सत्त रज्जु अहलोउ परिड्डिउ एक्कु वि मज्झिमु दीउ सुसंठिउ।
 पंच वि रज्जु तह उप्परि¹ ठिउ² तहि जि एक्कु उप्परि³ धरियउ।
 तिण्णि सयइं तेयालीस⁴ धणु। सयलु जु सायर सालंकरियउ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥15॥

आस्रव-भावना

मिच्छा¹ संजम जोय कसायहिं रोय सोय भय मोह पमायहि।
 संरंभाइहिं कारणिहिं काय वाय अणुमोयण सहियहिं।
 कंमासउ जीवहो हवई असुहासुह परिणामे लइयउ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥16॥

संवर-भावना

कोहहो खंति णाणु अणाणहो मायहो अज्जउ मद्दु माणहो।
 मिच्छत्तहो¹ जिणवयणअणुनइ² लोहहो मणि संतोसु ठविज्जइ।
 संजमु करहु असंजमहो इय संवरु णियमणि भाविज्जइ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥17॥

निर्जरा-भावना

महवय समिदि ति¹ - गुत्तिहि गुत्तउ वावीसहं परिसहं वि सहंतउ।
 परिभावंतइ भावणइ धम्मसरूव चरित्तु² चरंतहि।
 जा आसव णिज्जर भणिय सा पर होइ मुणिहिं उवसंतहं।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो ॥18॥

लोक-भावना

अर्थ - अधोलोक सात राजू-प्रमाण स्थित है। मध्यलोक में भी एक द्वीप सम्यक रूप से स्थित है। तथा ऊर्ध्वलोक पाँच राजू-प्रमाण स्थित है। इसके भी ऊपर एक राजू ऊँचाई धारण किये है। तीन सौ तैतालीस धनुष प्रमाण ऊँचा जो लोक है समस्त सागरों से अलंकृत है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥15॥

आस्रव-भावना

अर्थ - मिथ्यात्व (पाँच प्रकार का), संयम (दो), योग (पन्द्रह), कषाय (पच्चीस) आदि के द्वारा; रोग, शोक, भय, मोह, प्रमाद (पन्द्रह) आदि के द्वारा; समरंभ-समारंभ-आरंभ आदि कारणों से, मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना सहित जीव के कर्मास्रव होता है और उसके फलस्वरूप शुभाशुभ फल पाता है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥16॥

संवर-भावना

अर्थ - क्रोध के अभाव से क्षमा, अज्ञान के अभाव से ज्ञान, माया के अभाव से आर्जव, मान के अभाव से मार्दव, मिथ्यात्व के अभाव से जिनेन्द्र के वचनों का अनुसरण, लोभ के अभाव से मन में संतोष ठहराया जाता है। संयम करने से असंयम का अभाव होता है। इस प्रकार अपने मन में संवर की भावना भायी जाती है (करनी चाहिए)। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥17॥

निर्जरा-भावना

अर्थ - पंच-महाव्रत, पंच-समिति और तीन गुप्तियाँ मन, वचन, काय को अशुभ प्रवृत्तियों से रोकते हैं। मुनि बाइस परीषद भी सहते हैं। बारह भावनाओं का चिंतवन करते हुए धर्म के स्वरूपानुसार चारित्र को आचरते हैं। जिनेन्द्र भगवान ने जो आस्रव और निर्जरा का स्वरूप कहा है वह श्रेष्ठ उपशान्त मोहवाले मुनियों के ही होता है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥18॥

धर्म-भावना

खंति मूलु मद्दव गुण जुत्तउ अज्जव संजमवाय णिरुत्तउ।
 सच्च सउच्चालंकरि वंभचेर¹ अकिंचणत्तव भूसिउ।
 दहलक्खणु सिवसुह जणणु करहु धम्मु वियहु जिणभासिउ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो॥19॥

बोधिदुर्लभ-भावना

देउ जिणिंदु धम्मु दय सारउ रिसिगुरु विसयकसायणिवारउ।
 वोहिलाहु सिवगयगमणु अंतयालि संलेहणमरणे।
 जिणगुणसंपय सुहु हवउ दंसण णाण चरण तवचरणं।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो॥20॥

बोधिदुर्लभ-भावना

इय वारह भावण भावंतह परमु चित्ति वइराउ धरंतहं।
 धम्मं मणु णिच्चलु हवइ सुक्कझाण परिणइ संपज्जइ।
 पर परत्तसंभावणा¹ लहिज्जइ² अप्पे अप्पसरूउ मुणिज्जइ।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो॥21॥

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार-परिचय एवं कामना

एहरासु जिणवर पयभत्ते विरइउ कुंभिनयरि णिवसंते।
 जोगदेव पंडिउ पुर उत्ते¹ विसयसेण मुणिवर पयभत्ते।
 पढइ सुणइ जो सदहइ सो णरु सिव सुह लहइ पयत्ते।
 णविवि चलण मुणिसुव्वयहो॥22॥

इति श्री मुनिसुव्रतानुप्रेक्षा

धर्म-भावना

अर्थ - क्षमा जिसका मूल (है), मार्दव गुण से युक्त (है), आर्जव, संयम, त्याग व तप को निरन्तर (ध्याओ) सत्य व शौच से अलंकृत, ब्रह्मचर्य व आर्किचन्य से सुशोभित दसलक्षणधर्म शिव सुख का उत्पादक है। अतः जानकार लोग जिनेन्द्र द्वारा कथित इस धर्म को (धारण) करो। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥19॥

बोधिदुर्लभ-भावना

अर्थ - हे जिनेन्द्र ! श्रेष्ठ दयारूपी धर्म प्रदान करो। हे गुरु मुनिवर ! विषय-कषाओं का निवारण करो। अंतिम समय में मेरा सल्लेखनापूर्वक मरण हो। सद्धर्म की प्राप्ति से मोक्षगति-पंचमगति में गमन प्राप्त हो। दर्शन (सम्यग्दर्शन), ज्ञान (सम्यग्ज्ञान), तपश्चरणरूपी चारित्र (सम्यक्चारित्र), जो कि जिनगुण संपत्ति है वह सुख देने वाली होवे। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥20॥

बोधिदुर्लभ-भावना

अर्थ - इस प्रकार बारह भावनाएँ भाते हुए चित्त में उत्कृष्ट वैराग्य धारण करते हुए धर्म (ध्यान) द्वारा मन निश्चल होता है (तथा) शुक्ल ध्यान की परिणति को प्राप्त हो जाता है। (पश्चात्) आत्मा में आत्मस्वरूप जाना जाता है, तदनन्तर परलोक की संभावना प्राप्त की जाती है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥21॥

ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार-परिचय एवं कामना

अर्थ - यह रास, मुनिसुव्रतानुप्रेक्षा जिणवर के पद-भक्त, कुंभिनगर-निवासी पंडित जोगदेव द्वारा पूर्व कथित कुंभिनगर में मुणिवर विसयसेण की पदभक्ति से रचा गया। जो मनुष्य इसे पढ़ता है, सुनता है और श्रद्धा करता है वह मनुष्य उद्यम से शिवसुख पाता है। मुनिसुव्रतनाथ भगवान के चरणों में नमस्कार करके (बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) कहता हूँ) ॥22॥

इति श्री मुनिसुव्रतानुप्रेक्षा

मूलपाठ

पद्य 1 - 1, 2. मुणिसुवयहो।

विशेष : सभी पदों में 'चलण' शब्द में 'र' वर्ण के स्थान में 'ल' वर्ण का व्यवहार हुआ है।

पद्य 2 - 1. समा।

पद्य 3 - 1. घरिवि। 2. परिसरिसउ। 3. जाइ। 4. मणिसुवयहो।

पद्य 5 - 1. परुपरहं। 2. परारहं। 3. अत्थइ।

पद्य 6 - 1. जिं। 2. किजइ। 3. इकल्लइ। 4. सवु। 5. के। 6. तियइ।

पद्य 7 - 1. दझिति। 2. सयलिलु। 3. रुरुवंते।

पद्य 9 - 1. उपज्जइ। 2. इकु। 3. मूढदिदिड्ड। 4. कम्मवइ। 5. गुप्फइं। 6. तावइ।

पद्य 10 - 1. आज्जमं।

पद्य 11 - 1 उपज्जइ। 2. उपज्जइ। 3. वि। 4. अवथ।

पद्य 12 - 1. लखइ। 2. लखइ। 3. वियलिंदियहं। 4.। 5. नारय।

पद्य 13 - 1. चिलिविलु। 2. वियखणु।

पद्य 14 - 1. आयार। 2. परिवेदियउ।

पद्य 15 - 1. उपरिहिं। 2.....। 3. उपरि। 4. तेयाल।

पद्य 17 - 1. मिछतहो। 2. जिणवयणनुइ।

पद्य 18 - 1. त्ति। 2. चरितु।

पद्य 19 - 1. वंभ।

पद्य 21 - 1. संभववणइ। 2.....।

पद्य 22 - 1.।

अनुक्रमणिका

संज्ञा शब्द

क्र.सं.	संज्ञा शब्द	अर्थ	लिंग	पद.पंक्ति संख्या
1.	अंत	अंतिम	पु.	20.2
2.	अंसु	आँसू	नपुं.	7.3
3.	अग्गी	अग्नि	स्त्री.	12.1
4.	अज्जव	आर्जव	नपुं.	17.1, 19.1
5.	अणुप्पेहा	अनुप्रेक्षा	स्त्री.	1.3
6.	अणुमोयण	अनुमोदन	नपुं.	16.2
7.	अण्णाण	अज्ञान	नपुं.	17.1
8.	अप्प	आत्मा	पु.	2.3
9.	अरि	शत्रु	पु.	11.3
10.	अवत्थ	अवस्था	स्त्री.	11.3
11.	अवाय	वियोग/पार्थक्य (त्याग)	पु.	19.2
12.	अहलोअ	अधोलोक	पु.	15.1
13.	आकिंचण	आकिंचन्य	नपुं.	19.2
14.	आयार	आकार	पु.	14.1
15.	आरंभ	आरंभ	पु.	6.3
16.	आसव	आस्रव	पु.	18.3
17.	उवसंतु	उपशान्त मोह	पु.	18.3
18.	ऊसा	ओस	स्त्री.	2.1
19.	कंत	स्त्री	स्त्री.	11.2
20.	कज्ज	कार्य	पु.	6.1
21.	कम्मासय	कर्मास्रव	पु.	16.3

22.	कलत्त	स्त्री	नपुं.	3.2
23.	कलेवर	शरीर	नपुं.	7.2
24.	कल्ल	कल	नपुं.	5.1
25.	कसाय	कषाय	पु.	4.3, 16.1, 20.1
26.	काय	शरीर	पु.	16.2
27.	कारण	कारण	नपुं.	6.3, 16.2
28.	काल	समय	पु.	20.2
29.	किमिउल	कीटसमूह	पु.	13.1
30.	कुंभिनयर	कुंभिनगर	पु.	22.1
31.	कुडुंव	कुटुम्ब	नपुं.	6.1
32.	कुवेर	कुबेर	पु.	8.2
33.	कुसुम	पुष्प	नपुं.	10.1
34.	कोह	क्रोध	पु.	17.1
35.	खयर	विद्याधर	पु.	1.2
36.	खाण-पाण	खान-पान	पु./नपुं.	10.1
37.	खोणि	पृथ्वी	स्त्री.	12.1
38.	गंध	गंध	नपुं.	10.1
39.	गअ	हाथी	पु.	3.1, 4.1, 8.1
40.	गइ	गति	स्त्री.	20.2
41.	गमण	गमन	नपुं.	20.2
42.	गिरि	पर्वत	पु.	2.2, 7.2
43.	गुण	गुण	पु./नपुं.	19.1, 20.3
44.	गुत्ति	मन, वचन, काय को अशुभ प्रवृत्ति से रोकना	स्त्री.	18.1
45.	गुरु	गुरु	पु.	20.1
46.	घर	घर	पु./नपुं.	4.1, 4.2, 13.2

47.	चरण	चारित्र	पु./नपुं.	20.3
48.	चरित्त	चारित्र	नपुं.	18.2
49.	चलण	चरण	पु.	1.1
50.	जणणि	माता	स्त्री.	11.2
51.	जल	जल	नपुं.	12.1
52.	जाल	जाल	पु.	5.3
53.	जिअ	जीव	पु.	5.1, 10.2, 10.3, 12.1
54.	जिउ	जीव	पु.	6.2
55.	जिण	जिनेन्द्र	पु.	19.3, 20.3
56.	जिणवयण	जिनवचन	पु./नपुं.	17.2
57.	जिणवर	जिनवर	पु.	22.1
58.	जिणिद	जिनेन्द्र	पु.	20.1
59.	जीअ	जीव	पु./नपुं.	9.3
60.	जीव	जीव	पु.	14.3, 16.3
61.	जोअ	योग	पु.	16.1
62.	जोगदेव	जोगदेव	पु.	22.2
63.	जोणि	योनि	स्त्री.	6.2, 12.1
64.	जोवण	यौवन	नपुं.	2.1
65.	जोह	योद्धा	पु.	8.1
66.	णइ	नदी	स्त्री.	2.2
67.	णयण	नयन/नेत्र	पु.	1.4
68.	णर	मनुष्य	पु.	22.3
69.	णाण	ज्ञान	नपुं.	17.1, 20.3
70.	णिज्जर	निर्जरा	पु.	18.3
71.	णियाण	कारण	नपुं.	3.3

72.	तअ	तप	नपुं.	19.1
73.	तणअ	पुत्र	पु.	11.1
74.	तलि	तल	पु.	14.1
75.	तव	तप	पु./नपुं.	19.1
76.	तवचरण	तपश्चर्या	नपुं.	20.3
77.	ताव	ताप	पु.	9.3
78.	तिगुत्ति	तीन गुप्ति	स्त्री.	18.1
79.	तिरयह	तिर्यच	पु.	6.3, 12.2
80.	तिहुपवण	तीन वायुमण्डल	पु.	14.2
81.	तिहुयण	तीन लोक	पु.	8.3
82.	दंसण	दर्शन	पु.	20.3
83.	दय	दया	नपुं.	2.3, 20.1
84.	दिडि	दृष्टि	स्त्री.	9.2
85.	दीअ	द्वीप	पु.	15.1
86.	दुक्किय	पापकर्म	नपुं.	3.3
87.	दुक्ख	दुःख	पु./नपुं.	10.3
88.	दुगंध	दुर्गंध	पु.	13.1
89.	देह	शरीर	पु.	13.2
90.	धण	धन	नपुं.	3.1, 4.1
91.	धणु	धनुष	पु./नपुं.	15.3
92.	धण्ण	धान्य	नपुं.	3.1
93.	धम्म	धर्म	पु./नपुं.	2.3, 18.2, 19.3 20.1, 20.2
94.	नर	मनुष्य	पु.	1.2, 12.3
95.	पअ	पद	पु./नपुं.	22.1, 22.2
96.	पमाय	प्रमाद	पु.	16.1

97.	पयत्त	प्रवृत्त/प्रयत्न	पु.	14.3, 22.3
98.	परमप्पय	परमात्मा	पु.	9.3
99.	परिग्गह	परिग्रह	पु.	6.3
100.	परीसह	परीषह	पु.	18.1
101.	पवि	वज्र	पु.	14.1
102.	पाउ	पाप	पु./नपुं.	6.1
103.	पावरण	वस्त्र	नपुं.	10.1
104.	पिउवण	श्मशान	नपुं.	3.2
105.	पियविरह	प्रियजन का वियोग	पु.	7.3
106.	पुत्त	पुत्र	पु.	3.2, 11.1
107.	पुरंदर	इन्द्र	पु.	8.2
108.	बंधव	बंधु/बांधव	पु.	3.2
109.	बिंदू	बूंद	पु.	14.1
110.	बोहि	सद्धर्म की प्राप्ति	स्त्री.	20.1
111.	भंडार	भंडार	पु.	4.2
112.	भत्त	भक्त	पु.	22.1, 22.2
113.	भय	भय	नपुं.	8.3, 16.1
114.	भावण	भावणा	स्त्री.	18.2, 21.1
115.	भिच्च	सेवक	पु.	11.2
116.	भोयण	भोजन	नपुं.	10.1
117.	मंजूस	पिटारी	पु.	8.1
118.	मंदल	वाद्य विशेष (मृदंग)	पु.	14.1
119.	मंस	मांस	पु./नपुं.	13.2
120.	मअ	मृग/हरिण	पु.	4.1
121.	मच्छ	मछली	पु.	5.3
122.	मज्झ	मध्य	नपुं.	14.1, 15.1

123.	मण	मन	पु./नपुं.	17.2
124.	मणिरयण	मणिरत्न	पु.	3.1, 4.2
125.	मद्व	मार्दव	नपुं.	17.1, 19.1
126.	मरण	मरण	पु./नपुं.	8.3
127.	मरु	वायु	पु.	12.1
128.	महव्वय	महाव्रत	पु.	18.1
129.	महोरग	नागेन्द्र	पु.	1.2
130.	माआ	माया	स्त्री.	17.1
131.	माण	माण	पु./नपुं.	17.1
132.	माणुस	मनुष्य	पु.	5.3
133.	मिच्छत्त	मिथ्यात्व	नपुं.	17.2
134.	मिच्छा	मिथ्यात्व	नपुं.	4.3, 16.1
135.	मुणि	मुनि	पु.	18.3
136.	मुणिसुव्वय	मुनिसुव्रत	पु.	1.1
137.	मुनिवर	मुनिवर	पु.	22.2
138.	मूलु	जड़/मूल	नपुं.	19.1
139.	मेइणि	पृथ्वी	स्त्री.	7.1
140.	मेरु	सुमेरु पर्वत	पु.	7.2
141.	मोह	मोह	पु.	4.3, 16.1
142.	रज्जु	राजू (प्रमाण-विशेष)	स्त्री.	14.2, 15.1, 15.2
143.	रयणाअर	समुद्र	पु.	7.3
144.	रस	शरीर के अंदर की सात धातुओं में से पहली धातु	पु./नपुं.	13.2
145.	रह	रथ	पु./नपुं.	13.2
146.	रास	रास काव्य	पु.	16.1

147.	रिसि	ऋषि	पु.	20.1
148.	रुक्ख	वृक्ष	पु./नपुं.	12.3
149.	रोअ	रोग	पु.	16.1, 9.1
150.	लोअ	लोक	पु.	14.2
151.	लोह	लोह धातु	पु./नपुं.	8.1, 17.2
152.	वंभ	ब्रह्मा	पु.	8.2
153.	वंभचेर	ब्रह्मचर्य	पु.	19.2
154.	वंस	वंश	पु.	10.3
155.	वइराय	वैराग्य	पु.	21.1
156.	वण	जंगल	नपुं.	9.2
157.	वप्पु	बाप	पु.	11.1
158.	वरुण	वरुण	पु.	8.2
159.	वस	चर्बी	नपुं.	13.2
160.	वाअ	वाणी	पु.	16.2
161.	वाल	अज्ञानी	पु.	5.2
162.	वाहि	व्याधि	पु./स्त्री.	9.1
163.	विणय	विनत	पु.	1.4
164.	वित्थार	विस्तार	पु.	14.1
165.	वियप्प	विकल्प	पु.	5.2
166.	विलेवण	लेप	नपुं.	10.1
167.	विसय	विषय	पु.	20.1
168.	विसयसेण	विषयसेन	पु.	22.2
169.	विहव	वैभव	पु.	2.2
170.	वेत्तासण	बेत का आसन	नपुं.	14.1
171.	वेय	गति/प्रवाह	पु.	2.2
172.	संकप्प	संकल्प	पु.	5.2

173.	संचयण	समूह	पु.	7.2
174.	संजम	संयम	पु.	16.1
175.	संतोष	संतोष	पु.	17.2
176.	संपअ	संपत्ति	पु.	20.3
177.	संपइ	संपत्ति	स्त्री	2.2
178.	संभावणा	संभावणा	स्त्री.	21.3
179.	संरंभ	हिंसा करने का संकल्प	पु.	16.2
180.	संलेहणा	संलेखना	स्त्री.	20.2
181.	संवर	संवर	नपुं.	17.3
182.	संसार	संसार	पु.	5.1, 9.2, 11.2
183.	सउच्च	शौच	पु.	19.2
184.	सच्च	सत्य	नपुं.	19.2
185.	समागम	आगमन	पु.	2.3
186.	समिइ	समिति	स्त्री.	18.1
187.	सय	सौ	पु./नपुं.	15.3
188.	सरीर	शरीर	पु.	13.1
189.	सरुअ	स्वरूप	पु.	21.3, 18.2
190.	सहास	हजार	पु./नपुं.	5.2
191.	सहोयरि	बहिन	स्त्री.	11.2
192.	सामि	स्वामी	पु.	11.2
193.	सायर	समुद्र	पु.	7.3, 15.3
194.	सिव	मोक्ष	पु./नपुं.	19.3, 20.2, 22.3
195.	सुकिअ	पुण्य कर्म	नपुं.	3.3
196.	सुक्कझाण	शुक्ल ध्यान	नपुं.	21.2
197.	सुया	पुत्री	स्त्री.	11.2
198.	सुर	देवता	पु.	1.2, 12.2

199.	सुरधणु	इन्द्रधणु	पु.	2.1
200.	सुवण्ण	सुवर्ण	नपुं.	3.1
201.	सुह	सुख	नपुं.	19.3, 22.3
202.	सुह-सयण	सुख-शैय्या	नपुं.	4.1
203.	सोणिय	रुधिर	नपुं.	13.2
204.	सोय/सोअ	शोक	पु.	9.1, 16.1
205.	हअ	घोड़ा	पु.	3.1, 8.1
206.	हड्ड	हड्डी	पु.	7.2
207.	हर	महादेव/शिव	पु.	8.2
208.	हरि	विष्णु	पु.	8.2

सर्वनाम शब्द

क्र.सं.	सर्वनाम शब्द	अर्थ	पद.पंक्ति संख्या
1.	एह	यह	22.1
2.	क	कौन	10.3
3.	कें	कौन	6.3
4.	केण	कौन	8.3, 14.3
5.	किं	क्या	10.3
6.	जं	जो	3.3, 6.1
7.	जहिं	जिस	6.2
8.	जा	जो	18.3
9.	जो	जो	22.3
10.	तं	वह/उस/उसका	3.3, 6.1, 10.2
11.	तहु	उसका	6.3
12.	तेरउ	तेरा	10.2
13.	तहि	उस	13.3, 15.2
14.	मे	मेरा	4.1

15.	यहु	यह	5.1
16.	सा	वह	18.3
17.	सो	वह	22.3
18.	सव्वु	सब	6.1

विशेषण

क्र.सं.	विशेषण शब्द	अर्थ	पद.पंक्ति संख्या
1.	अंतरियउ	अन्तरित	7.2
2.	अर्चितिय	सहसा	5.3
3.	अत्थिर	अस्थिर	2.3
4.	अलंकरिय	अलंकृत	15.3
5.	असंजम	असंयम	17.3
6.	असारउ	असार/सारहीन	2.3
7.	असुइ	अपवित्र	13.1
8.	असुह	अशुभ	16.3
9.	आजम्म	जन्मपर्यन्त	10.2
10.	आसन्न	समीपवर्ती	8.3
11.	इयर	इतर	12.1
12.	इक्क	एक	9.1
13.	इक्कलइ	अकेला	6.1
14.	उत्त	कथित	22.2
15.	एक्क	एक	9.1, 15.1, 15.2
16.	कम्मवस	कर्मवश	9.2
17.	कलुणु	करुणापूर्वक	7.3
18.	कहिअ	कथित	12.3
19.	केवलगुण	केवलज्ञान	1.2, 1.4
20.	खंत	क्षमा	17.1, 19.1
21.	गुप्प	व्याकुल होना	9.2
22.	चंचल	चंचल	2.2

23.	चउदह	चौदह	12.3
24.	चउरासी	चौरासी	12.3
25.	चारि	चार	12.2
26.	चित्त	चित्त/अंतःकरण	21.1
27.	चिलिच्चिल	आद्रता	13.2
28.	छह	छह	12.2
29.	जडिय	जड़ा हुआ	4.3
30.	जण/जणण	उत्पादक	10.3, 19.3
31.	जणेर	उत्पादक	10.3
32.	जीविअ	जीवन	2.1
33.	जुत्त	युक्त	19.1
34.	ठिउ	स्थित	15.2
35.	णाणि	ज्ञानी	9.3
36.	णिच्च	नित्य	12.1
37.	णिच्चल	निश्चल	21.2
38.	णिमिय	स्थापित	14.3
39.	णियत्त	जिसकी निष्पत्ति हो चुकी है	3.1
40.	णियमण	निज मन	17.3
41.	णिरू	निरंतर	19.1
42.	णीसार	सार-रहित	13.3
43.	तह	तथा	15.2
44.	तिणि	तीन	15.3
45.	तेआलीस	तेतालीस	15.3
46.	दढ	मजबूत/दृढ़	7.1
47.	दह	दस	12.3, 14.3
48.	दहलक्खण	दसलक्षण	19.3
49.	दीह	ऊँचा/लंबा	14.2

50.	नवउ	नया	6.2
51.	नारइय	नारकी	12.2
52.	पंच	पाँच	15.2
53.	पंडिअ	पंडित	22.2
54.	पर	तदनन्तर/श्रेष्ठ	18.3, 21.3
55.	परम	परम/सर्वोत्कृष्ट	21.1
56.	परारि	पराई	5.1
57.	परिड्डिअ	अच्छी तरह स्थित	15.1
58.	परिणइ	परिणति	21.2
59.	परिणाम	फल	16.3
60.	परिवेडिय	परिवेष्टित	14.2
61.	परुप्पर	परस्पर	5.1
62.	बारह	बारह	21.1
63.	भव्ययण	भव्यजण	1.4
64.	भूसिउ	विभूषित	19.2
65.	मणहर	मनोहर	4.2
66.	महा	महान	7.2
67.	महिय	पूजित	1.2
68.	मूढ	मूढ	9.2
69.	मूढमइ	मूर्ख	4.3
70.	रअ	अनुरक्त	5.2
71.	रइवद्ध	आसक्ति में वद्ध	13.3
72.	लइअ	ग्रहण किया	16.3
73.	लक्ख	लाख	12.1, 12.2, 12.3
74.	वहु	बहुत/अनेक	3.1, 5.2, 9.1, 6.3
75.	वारह	बारह	1.3
76.	वावीस	बाइस	18.1
77.	विअ	जानकार	19.3

78.	विमल	विशुद्ध	1.2
79.	वियक्खण	बुद्धिमान	13.3
80.	वियलिंदिय	विकलेन्द्रिय	12.2
81.	विरइय	विरचित	22.1
82.	षण-भंगुर	क्षण-भंगुर	13.2
83.	संछण्ण	आच्छादित	13.1
84.	संपण्ण	सम्पन्न	13.1
85.	सत्त	सात	12.1, 15.1
86.	समाण	समान	2.1, 2.2
87.	समिद्ध	समृद्ध	13.2
88.	सयल	समस्त	1.2, 7.1, 14.3, 15.3
89.	सयल	जल युक्त	7.1
90.	सहिअ	सहित	1.2
91.	सार	श्रेष्ठ	2.3, 20.1
92.	सु-संठिउ	सम्यक रूप से स्थित	15.1
93.	सुह	शुभ/सुखकारी	16.3, 20.3
94.	सोसिय	सुखा दिया गया	7.1

क्रियाएँ

अकर्मक

क्र.सं.	क्रिया	अर्थ	पद.पंक्ति संख्या
1.	अत्थि	है	5.2
2.	खिज्झ	खीझना	9.1
3.	छज्ज	शोभना	8.1
4.	जम्म	उत्पन्न होना	11.3
5.	जाइ	जाना	6.2
6.	पड	गिरना	5.3
7.	भम	भ्रमण करना	9.2

8.	मर	मरना	9.1
9.	रुव	रोना	7.3
10.	हव	होना	16.3, 10.3, 20.3, 21.2
11.	हो	होना	9.3

सकर्मक

क्र.सं.	क्रिया	अर्थ	पद.पंक्ति संख्या
1.	अनुहर	अनुकरण करना	2.1
2.	अणुणइ	अनुनय करना	17.2
3.	अलंकर	भूषित करना	19.2
4.	उप्पज्ज	उत्पन्न होना	6.2, 9.1, 11.1, 11.2
5.	कर	करना	2.3, 17.3, 19.3
6.	गोव	छिपाना	8.2
7.	चरंत	आचरण करना	18.2
8.	चेय	जानना/अनुभव करना	4.3
9.	चिंत	चिंता करना	5.1
10.	ठव	ठहरना	17.2
11.	णिवस	निवास करना	22.1
12.	णिवार	निवारण करना	20.1
13.	दे	देना	20.1
14.	धर	धारण करना	14.3, 15.2, 21.1
15.	परिसर	सरकना/खिसकना	3.3
16.	पिय	पीना	7.1
17.	पडिवज्ज	स्वीकार करना	11.1
18.	परिभाव	चिंतवन करना	18.2
19.	पढ	पढ़ना	22.3
20.	परिपोस	परिपुष्ट करना	10.2
21.	भण	कहना	1.3, 6.3, 18.3

22.	भर	भरना	7.3, 14.3
23.	भाव	भाना	17.3, 21.1
24.	भास	कहना	19.3
25.	मान	मानना	2.1
26.	मुण	जानना	11.3, 21.3
27.	याण	जानना	12.2
28.	रुज्झ	रोकना	8.1
29.	रुंभ	रोकना	10.3
30.	रक्ख	रक्षा करना	8.3
31.	लह	प्राप्त करना	21.3, 22.3
32.	वाहुड	चलाना (देशी शब्द)	3.2
33.	वियाण	जानना	3.2
34.	संपज्ज	प्राप्त होना	21.2
35.	सह	सहना	6.1, 18.1
36.	सद्धह	श्रद्धान करना	22.3
37.	सुण	सुनना	22.3

कृदन्त

क्र.सं.	कृदन्त	अर्थ	पद.पंक्ति संख्या
1.	करंतु	करता हुआ	4.2
2.	किअ	किया	6.1, 6.3
3.	किउ	किया	3.3
4.	जाणिवि	जानकर	2.3
5.	जाइवि	जानकर	3.3
6.	णविवि	नमस्कार कर	1.4
7.	धरिवि	धरकर	3.1
8.	पडियउ	पड़ा	4.2
9.	परिसरिउ	खिसक गया	3.3
10.	मरेवि	मरकर	11.1, 11.2

अव्यय

क्र.सं.	अव्यय	अर्थ	पद.पंक्ति संख्या
1.	अज्ज	आज	5.1
2.	इय	इस प्रकार	21.1, 11.3, 17.3
3.	उप्परि	ऊपर/उर्ध्व	4.1, 15.2
4.	एम	इस प्रकार	12.3
5.	किंपि	कुछ भी	3.3, 4.3
6.	केम	कैसे	13.3
7.	जिम	जिस प्रकार	5.3
8.	जइ	यदि	8.1
9.	जहिं-जहिं	जहाँ/जिस	6.2
10.	जि	ही	9.3
11.	जि	भी	15.2
12.	जु	जो	15.3
13.	णउ	नहीं	8.3
14.	ण	नहीं	10.2, 10.3, 14.3
15.	तिम	वैसे/इसी प्रकार	5.3
16.	तहि-तहि	वहाँ/उस	6.2
17.	तोवि	तो भी	8.3
18.	धुअ	निश्चय	5.1
19.	न	नहीं	4.3, 8.1
20.	पुणु	फिर	2.3
21.	परत्त	परलोक	21.3
22.	पुर	पूर्व, पहले	22.2
23.	वि	भी	8.1, 11.1, 14.3, 15.1, 15.2, 18.1

जैनविद्या संस्थान
अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर-4

सुप्पय दोहा

रचयिता - आचार्य सुप्रभ

अर्थ - प्रीति जैन



‘सुप्पय दोहा’ आचार्य सुप्रभ द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचित एक छोटी एवं सारगर्भित रचना है। साहित्य-जगत में यह रचना ‘वैराग्यसार’ नाम से भी जानी जाती है। जिस पाण्डुलिपि को हमने आधार बनाया है और आदर्श माना है उसमें यह रचना ‘सुप्पय दोहा’ के नाम से लिपिबद्ध है अतः यहाँ यह इसी नाम से प्रकाशित की जा रही है।

इस कृति की अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं। शास्त्र-भण्डारों में प्रायः इसकी एक से अधिक प्रतियाँ मिल जाती हैं। रचना छोटी है इसलिए गुटकों में संगृहीत है। हमारी आधार एवं आदर्श प्रति/पाण्डुलिपि दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित ‘जैनविद्या संस्थान’ के पाण्डुलिपि भण्डार में गुटका संख्या 55, वेष्टन संख्या-253, पृष्ठ संख्या 34 से 39 में लिपिबद्ध है। इसी पाण्डुलिपि भण्डार में इस कृति की दो और प्रतियाँ हैं - (2) गुटका संख्या-46 वेष्टन, संख्या-244 तथा (3) गुटका संख्या-5, वेष्टन संख्या-203।

हमने अपनी आधार प्रति गुटका संख्या-55, वेष्टन संख्या-253 को ‘A’ प्रति निर्देश किया है और गुटका संख्या-46, वेष्टन संख्या-244 को ‘B’ प्रति तथा गुटका संख्या-5, वेष्टन संख्या 203 को ‘C’ प्रति निर्देश किया है। ‘B’ प्रति का गुटका अत्यन्त क्षतिग्रस्त है।

मूलतः तो 'A प्रति' ही हमारी आधार एवं आदर्श प्रति है, यहाँ इसी का मूल पाठ प्रकाशित किया जा रहा है, किन्तु कुछ स्थानों पर B और C प्रति का सहारा लिया गया है। इन स्थानों पर A प्रति में अंकित शब्द सार्थक नहीं थे, उनसे प्रसंग एवं अर्थ दोनों की संगति नहीं हो रही थी जबकि 'B और C प्रति' में उन स्थानों पर अंकित शब्दों से प्रसंग व अर्थ दोनों की सहज संगति व निष्पत्ति हो रही थी।

उल्लेखनीय है कि उपलब्ध प्रतियों के पाठ समान नहीं हैं। लगभग सभी प्रतियों में दोहों का क्रम भिन्न है। हमारी आधार प्रति A में कुल 79 दोहे हैं। इनमें पाँच स्थानों पर युग्म (दो दोहे एकसाथ) हैं।

- दोहा संख्या 7 पर युग्म है पर क्रम संख्या एक ही (7) दी गई है।
- दोहा क्रमांक 18 के बाद दोहा क्रमांक 20 है। क्रमांक 19 का दोहा नहीं है।
- क्रमांक 30 के बाद दो दोहों पर क्रमांक 31, 31 दिया गया है। जो एक ही दोहे की पुनरावृत्ति है, इसलिए इनमें से एक ही दोहा प्रकाशित किया गया है।
- इसी प्रकार क्रमांक 32 के बाद क्रमांक 33, 33 भी दो दोहों पर अंकित है।
- क्रमांक 64 तथा 75 पर भी युग्म हैं।

इस प्रकार इस पाण्डुलिपि में क्रमांक 75 तक के दोहों में कुल 79 दोहे निबद्ध हैं। यहाँ 78 दोहे प्रकाशित हैं।

इससे पूर्व भी इस रचना का प्रकाशन हो चुका है। कहीं केवल मूल दोहों का प्रकाशन किया गया है तो कहीं अर्थ-सहित। अब तक जो दो-चार प्रकाशन देखने में आये उनमें और हमारी A प्रति के मूल दोहों के शब्दों में, भाषा में, क्रमांक में बहुत अन्तर-भेद दिखाई दिये। जो अर्थ दृष्टिगत हुए वे संस्कृत छाया को आधार बनाकर किये गये थे, जिससे रचना का भाव, मूल हार्द गौण हो गया। यहाँ प्रस्तुत अर्थ अपभ्रंश भाषा के मौलिक आधार से, उसकी मूल प्रवृत्ति - मूल संरचना के आधार से किया गया है। प्रत्येक भाषा की अपनी मौलिकता होती है, वही उसकी विशेषता होती है। अपभ्रंश भाषा इसका अपवाद नहीं है। यद्यपि 'अपभ्रंश' एक लोकभाषा है, किन्तु इसमें प्रचुर मात्रा में साहित्य-रचना हुई है। साहित्य की लगभग सभी विधाओं में अपभ्रंश साहित्य का निर्माण हुआ है। पाँचवीं शताब्दी ईस्वी से पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी तक लगभग एक हजार वर्ष का काल इस भाषा की समृद्धि का काल था जिसमें पुष्कल मात्रा में साहित्य-रचना हुई।

इस कृति के रचनाकार आचार्य सुप्रभ के संबंध में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। डॉ. हरिवंश कोछड़ आचार्य सुप्रभ का समय 11वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी

ईस्वी के मध्य मानते हैं। अन्य विद्वान व भाषा-शास्त्री भी भाषा की दृष्टि से यही समय मानते हैं।

इस रचना में कवि ने सर्वत्र सामान्य मानवीय धर्म का विवेचन किया है। मूलतः यह रचना मानव मूल्यों एवं वैराग्य भाव पर आधारित है। सम्भवतः इसकी विषय-वस्तु के कारण ही इसे 'वैराग्यसार' कहा जाने लगा हो! किसी विशिष्ट धर्म से न जोड़कर मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में इस रचना का रसास्वाद किया जाना अपेक्षित है। तब शंकाओं का निराकरण, विचारों का परिष्कार, रस की द्विगुणता और भावों की निर्मलता सहज ही संभव है।

इस रचना में संसार की अस्थिरता, मृत्यु की आकस्मिकता व अनिवार्यता, सांसारिक संयोगों व सम्बन्धों की विद्रूपता, आत्मा का अन्यत्व एवं एकत्व, मनुष्य जीवन की दुर्लभता, परोपकार, दान, सदाचार आदि बिन्दुओं पर ध्यान आकर्षित किया गया है।

संसार एवं सांसारिक विषयों की अस्थिरता बताते हुए कवि कहते हैं - हे जिय! देख, जो प्रातः राजभवन में राज कर रहा था वह संध्या-समय श्मशान में पहुँच गया (अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया, (2) (4) (6) (61)। अरे! सूर्य और चन्द्रमा भी अस्त होते हैं तब बता, यहाँ कौन स्थिर है (3)? जिस देह के कारण घोर पाप करके धन संचय करता है वह देह और वह धन दोनों ही नाशवान हैं। अस्थिर हैं (31) (33)। जब सब नश्वर हैं तब पाप करके धन का संचय क्यों करता है (33 II) (31)?

यह संसार एक विडम्बना है, यहाँ कहीं सुख है तो कहीं दुःख; कहीं खुशी कहीं गम (1) सर्वत्र विचित्रताएँ - विभिन्नताएँ (4) (6) देखने को मिलती हैं। यहाँ परस्पर विरोधी वस्तुएँ भी एक साथ दिखाई देती हैं - (25)।

मृत्यु की आकस्मिकता एवं अनिवार्यता बताते हुए कवि कहते हैं - सारा संसार मृत्यु से पीड़ित है (12), मृत्यु धन-यौवन किसी को नहीं देखती (48), वह कब आ पहुँचे, पता नहीं (7) (63)। समय कम है, जैसे अंजुरि में भरा पानी झर जाता है वैसे ही आयु भी रीत जाती है (21)।

सांसारिक संयोगों व सम्बन्धों की विद्रूपता बताते हुए कवि ने कहा है - तू जिस परिवार व कुटुम्ब के पालन-पोषण के लिए अनीति-अकार्य करता है वे ही तुझे नरक ले जाते हैं क्योंकि उनके लिए तू कार्य-अकार्य को अनदेखा कर देता है (51)। तू इन्द्रियों में आसक्त रहता है (60), घर-परिवार की चिन्ता करता हुआ छटपटाता

रहता है (12); विचार कर, आसक्त मनुष्य को मोह बहुत नचाता है (74) (75)। तू जिस प्रिय के मरने पर पछाड़ खाकर रोता है वह तो श्मशान में अकेला ही जलता है, यह कैसा प्रेम है तेरा (69)! अरे, इन बंधु-बांधवों से तो वे लकड़ियाँ ही भली हैं जो साथ में जल जाती हैं (9)। सगे-सम्बन्धी तो केवल आँसू टपकाते हैं (10)। बता, तेरे लिए कुटुम्ब कितने दिन रोता है (32)?

और तू इतना विलाप करके रो रहा है, तो क्या इससे मरा हुआ प्रिय वापस आता है (13) (64 B)! जाते हुए को कोई नहीं रोक सकता (71)। जब मृत्यु आती है तब कोई रक्षक नहीं होता/कोई रक्षा नहीं करता (26)।

आत्मा का एकत्व समझाते हुए कवि ने कहा है - तू अकेला है, तेरा यहाँ कोई नहीं है, देख, जब मानव मरता है तो वह श्मशान में अकेला ही जलता है, संगी-साथी, भाई-बंधु, परिवारजन कोई भी साथ नहीं जलता (9) (70)। घर-परिवार की चिन्ता करता हुआ क्यों छटपटाता है (12)? जिस परिवार के लिए अनीतिपूर्ण कार्य भी करता है वह परिवार भी तेरा साथ नहीं देता। तेरा परिवार के प्रति मोह-आसक्ति ही तुझे संसार में नचाता है (74) (75)।

यह मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है, यह समझाते हुए कवि कहते हैं - देख, उत्तम कुल में मनुष्य-जन्म पाना बहुत दुर्लभ है (39)। ध्यान दे, ये दिन निष्फल न चले जायें (22)। मानव देह का/मानव जन्म का महत्त्व समझ (38) (39)।

मनुष्य-जन्म को सार्थक करने के लिए अरिहंत का ध्यान कर (8), मन पर संयम रख (42), सदाचार को अपना (38), धर्म कर (39), तप कर (49) (41), जो संयम रखते हैं, क्रोध नहीं करते वे यति होते हैं (43)। ज्ञान-ध्यान कर (58), जीवों पर दया कर (37), विपत्तिग्रस्त लोगों की रक्षा कर (37), परोपकार कर (29), जो परोपकार करता है भाग्य उनका साथ देता है (38) (63)। परोपकार कर, जिससे संसार-बन्धन से छुटकारा मिलता है (83) (66)। सज्जनों की प्रशंसा कर, उनका जैसा आचरण कर (32)। व्यर्थ क्यों रोता है, छटपटाता है (58)? सत्कार्य कर (38) (39), देख मरना निश्चित है अतः सुकृत करले (37) (42)।

कवि ने दान को बहुत महत्त्व दिया है - देख, यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है, न ऊँचा कुल न ऊँचे लोग, इसलिए दान दे (40)। दान दिया हुआ धन ही स्थिर होता है (52)। जो दान नहीं देता वह मरे हुए के समान होता है (36), वह अनाथ बच्चे के समान क्षीण होता हुआ शीघ्र ही मर जाता है (18)। यदि धन का दान नहीं करता तो फिर धन का संचय क्यों करता है (34)? दान देते हुए दुःखी मत हो (16)! जो

दान नहीं देता वह स्वयं पीड़ित होता है और अपने परिवार को भी खंडित करता है (62)। जो दान देता है वह धर्मशील कहलाता है (64)। दान देनेवाले को धर्म भी होता है और यश भी मिलता है (73)। जो दान देता है उसका भाग्य भी साथ देता है (38) (63)। देख, जितना दिया हुआ है उतना ही मिलता है (68), इसलिए जो मिला है उसी में संतोष कर (23)। दुःखी मत रह, छटपटा मत (58)।

कवि, जो दानरहित है उसकी निन्दा तो करता ही है, जो याचक हैं उनकी भी निन्दा करता है (36)। कवि समझाते हुए कहते हैं - हे जिय! ज्ञान-प्राप्ति के लिए मन का संवरण कर (42)। जिसका मन मर जाता है वह अमर हो जाता है (59)। जो मन को मार लेता है वह मोक्ष पाता है और जो जीवों को मारता है वह नरक को जाता है (72)। सर्वत्र भावों की प्रधानता है (56)।

व्यसनों की, पर-स्त्री की, परधन की आशा क्यों करता है (66)! धन-यौवन का अभिमान मत कर (49)। देख, संसार में धन-दौलत, बंधु-बाँधव-परिवारजन सबका हरण हो सकता है किन्तु किये हुए पुण्य का/ सुकृत का हरण नहीं हो सकता (20)। इसलिए हे मनुष्य! सुकृत कर! जो धर्म करता है उसके संसार का उन्मूलन हो जाता है (66)।

इस प्रकार प्रत्येक दोहे में कोई न कोई मूल्यपरक, आध्यात्मिक संदेश निहित है। ये दोहे - 'देखन में छोटे लगे पर भाव भरे गंभीर' हैं।

क्रमांक 11, 13, 18, 75, 76 के अतिरिक्त शेष सभी दोहों में कवि ने अपना नाम दिया है - 'सुप्पउ भणइ' 'सुप्पय' या 'सुप्पा'। यह कवि की विशेषता है। इससे ही कृतिकार कवि की पहचान गुम होने से बच गई, अन्यथा साहित्य के विशाल सागर में कवि का नाम और पहचान दोनों ही ज्ञात न हो पाते।

विदेशियों के आक्रमणों के दौर में संस्कृति एवं साहित्य की सुरक्षा के लिए किये गये प्रयासों में विशाल शास्त्र भण्डार छिपा दिये गये, दबा दिये गये। उनमें निहित साहित्यिक निधि वर्षों तक प्रकाश में न आ सकी। अपभ्रंश भाषा का साहित्य भी इसी विडम्बना का शिकार हुआ। भारत में एक हजार वर्ष तक साहित्यिक भाषा का सम्मान पानेवाली अपभ्रंश भाषा काल के प्रवाह में लुप्त रही। उसके विपुल एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य से वर्षों तक लोग अनभिज्ञ रहे। जब शास्त्र-भण्डारों में संगृहीत व सुरक्षित वह साहित्य प्रकाश में आने लगा तो लोग अपभ्रंश भाषा से अनजान थे, वे इसके ग्रन्थों को प्राकृत भाषा के ग्रन्थ समझते रहे। ऐसी गुमनाम, पुरानी भाषा को समझना अत्यन्त कठिन लगता था। जयपुर में डॉ. कमलचन्दजी सोगाणी (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन

विभाग, सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर) के अथक प्रयासों से इस भाषा के व्यवस्थित अध्ययन-अध्यापन की अभूतपूर्व पहल की गई। उनके प्रयासों और परामर्श से दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा स्थापित व संचालित 'अपभ्रंश साहित्य अकादमी' द्वारा वर्ष 1989 से अपभ्रंश-प्राकृत भाषाओं का विधिवत् अध्यापन प्रारंभ किया गया जो आज भी पत्राचार के माध्यम से अनवरत संचालित है। आज ये पाठ्यक्रम राजस्थान विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त है।

मेरा सौभाग्य था कि मुझे डॉ. कमलचन्दजी सोगाणी से इस विलुप्त-पुरानी 'अपभ्रंश भाषा' को सीखने का अवसर मिला। उनसे मिली शिक्षा के आधार पर ही अपभ्रंश की इस रचना - 'सुप्पय दोहा' का अर्थ कर सकी। इसके लिए मैं श्रद्धेय गुरुवर डॉ. सोगाणी की चिरऋणि हूँ, उनके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करती हूँ।

इस काव्यकृति की पाण्डुलिपि उपलब्ध कराने के लिए जैनविद्या संस्थान के पाण्डुलिपि विभाग के तत्कालीन प्रभारी (स्व.) पण्डित भँवरलालजी पोल्याका, जैनविद्या संस्थान समिति के पूर्व संयोजक (स्व.) डॉ. गोपीचन्दजी पाटनी, श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका की आभारी हूँ।

अपभ्रंश साहित्य अकादमी की शोध-पत्रिका 'अपभ्रंश भारती' में इसके प्रकाशन के लिए मैं पत्रिका के सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल तथा जैनविद्या संस्थान समिति के वर्तमान संयोजक डॉ. कमलचन्दजी सोगाणी के प्रति आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

पाठक इस छोटी-सी काव्य-रचना को पढ़कर, इसका चिन्तन-मनन कर इसके हार्द को समझें; दान-परोपकार आदि मूल्यों को जीवन में उतारें; जीवन की क्षणभंगुरता, मृत्यु की अनिवार्यता व आकस्मिकता को हृदयंगम करते हुए आत्मा के एकत्व-अन्यत्व स्वरूप को आत्मसात कर अपने दुर्लभ मनुष्य-जन्म को सार्थक बनाने का प्रयास करें ह यही है इस कृति के प्रकाशन का उद्देश्य।

1. एक्कहि घरे वद्धावणउ, अण्णहे घरे धाहहि रोविज्जइ।
परमत्थे 'सुप्पउ भणइ', किम वइराउ भाउ नउ किज्जइ॥1॥

अर्थ - एक घर में बधाई (होती) है, अन्य के घर में धाह की आवाज के साथ रोया जाता है। सुप्रभ कहते हैं - (ऐसा देखकर भी) परमार्थ के लिए वैराग्य-भाव क्यों नहीं किया जाता?

2. 'सुप्पउ भणइ' रे धम्मियहु, खसहु म धम्म-णियाणि।
जे सुरूग्गमि धवलहरे, ते अंथवणि मसाणि॥2॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे धार्मिकजनो ! धर्म-रज्जु के बंधन से स्वलित मत होवो। जो (लोग) सूर्य-उदय (के समय) पर, राजमहल में होते हैं वे सूर्यास्त (के समय) में श्मशान में (देखे जाते हैं, अर्थात् मरण को प्राप्त हो जाते हैं)।

3. 'सुप्पउ भणइ' म परिहरहु, पर-उवयार चरित्तु।
ससि-सूरहं उइ अत्थवणु, अण्णह कवणु थिरत्तु॥3॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - (हे सज्जन!) परोपकार के आचरण को मत छोड़। (देख,) सूर्य और चन्द्रमा दोनों अस्त होते हैं (अर्थात् इनका भी अवसान होता है) तब (संसार में) अन्य कौन स्थिर है?

-
4. धणवंता 'सुप्पउ भणइ' धणु दइ विलसि म भुल्लि।
अज्जु जि दीसहि के वि णरा, मुआ तिसु महि कल्लि॥4॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे धनवान! (तुम) (भोग-) विलास में मत भूले रहो। धन दो (दान करो)। (देख!) आज पृथ्वी पर जो नर देखे जाते हैं (उनमें) कितने ही (नर) कल मृत (हो जायेंगे/मर जायेंगे)।

5. अह घरु करि दाणेण सहं, अह तउ करि णिगंथु।

विहि चुक्कउं 'सुप्पउ भणइ', अरि जीव इत्थु न उत्थु॥5॥

अर्थ - (हे नर !) यदि घर बनाते हो (अर्थात् गृहस्थी बसाते हो) तो दान के साथ (बनाओ और) यदि तप करते हो (अर्थात् संन्यास धारण करते हो तो) निर्ग्रन्थ विधि से करो। सुप्रभ कहते हैं - (यदि) (इन दोनों) विधि से चूकोगे तो हे जीव ! न यहाँ (गृहस्थी में कुछ पा सकोगे न वहाँ (कुछ पा सकोगे, अर्थात् न इधर के रहे न उधर के।)

6. 'सुप्पउ भणियउ' रे धम्मियहु, पडहु म इंदियजालि।

जसु मंगल सूरुग्गमणे, कंख णउ वियालि॥6॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे धार्मिकजनो ! इन्द्रियों के जाल में (विषय-भोगों में) मत पड़ो। (देखो !) सूर्य-उदय के समय जिसका मंगल (देखा जाता है) सायंकाल उसका कंकाल (भी शेष) नहीं (दिखता)।

7. 'सुप्पउ भणइ' म मेल्लि जिय, जिण गिरिचरण कराडि।
को जाणइ कहि खणे पडइ, तुट्ट कयंतहो धाडि॥
अरि जिय तुव 'सुप्पउ भणइ', पाविय धंमु म मेल्लि।
पेखंतहं सुहि-सज्जणहं, अवसु मरिक्कउ कल्लि ॥7॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे जीव ! जिनेन्द्र (भगवान) के (बताये हुए) पवित्र आचरण को कठिन (समझकर) मत छोड़। कौन जानता है (कि) किस क्षण में यम/मृत्यु का आकस्मिक आक्रमण आ पड़े/टूट पड़े।

हे जिय ! तेरे लिए सुप्रभ कहते हैं - प्राप्त (जिन-) धर्म को मत छोड़। सुखयुक्त देखे जाते हुए सज्जनों का (भी) कल मरा जाना निसन्दिग्ध (निश्चित) है।

8. जिम झाइज्जइ वलहउ, तिम जय जिय अरहंतु।
'सुप्पउ भणइ' त माणुसहो, सुण्ण¹ घरंगणे हुंतु ॥8॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे जीव ! (तुम्हारे द्वारा) जिस प्रकार प्रिय का ध्यान किया जाता है उस प्रकार (यदि) अरिहंत का ध्यान करो तो तुम्हारे घर-आँगन में ही स्वर्ग/मोक्ष हो जावे।

1. B. सग्गु परि C. सग्गु

सग्गु = मोक्ष, मुक्ति। यहाँ 'C' प्रति के 'सग्गु' शब्द के आधार से अर्थ किया गया है।

9. मुवउ मसाणि ठवेवि लहु, वंधव णिय-यरु¹ जंति।

वर लक्कड 'सुप्पउ भणइ', जो सरिसा डज्जंति॥9॥

अर्थ - मरे हुए (मृत व्यक्ति/सम्बन्धी) को श्मशान में ठेलकर बंधु-बांधव अपने घर (चले) जाते हैं। सुप्रभ कहते हैं - (उनसे तो) वे लकड़ियाँ श्रेष्ठ हैं जो (उस मृतक के) साथ जलती हैं। (अर्थात् वे अन्त तक साथ देती हैं)।

1.C. णिय घरि

यहाँ अर्थ में 'C' प्रति के इस शब्द को आधार माना गया है।

10. रोवतंहं धाहा-रवेण, पर यंसुवई गलंति।

जम मिलियइ 'सुप्पउ भणइ', इत्थु न काय उ भंति॥10॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं (कि) - इसमें कुछ भी/कोई भी भ्रांति नहीं है कि जब यम/मृत्यु मिलती है तो धाह (चिल्लाहट) की आवाज के साथ रोते हुए सम्बन्धियों के केवल आँसू टपकते हैं।

11. अरि जिय तं तुहं किं पि करि, जं सुयणहं पडिहाइ।

मणु विसयहं हवि इंधणहं, मि-तन धव णहं जाइ॥11॥

अर्थ - हे जीव ! तू कुछ भी वह कर (बस वही कर) जो सुजन/सज्जनों के अनुरूप (योग्य) प्रतीत होता है। इस मन को/मनुष्य पर्याय को विषय-भोगों की अग्नि में ईंधन (जलावण) (बनायेगा तो तू यह) जान (फिर इस) मिट्टी के तन का स्वामी (कोई) नहीं है।

मि = मिट्टी, तन = शरीर

12. हियडा काइं चडपडहिं, घरु परियणु चिंतंतु।

किं न पेखहि 'सुप्पउ भणइं', जगु जगडंतु कयंतु॥12॥

अर्थ - हे मन ! घर-परिजनों की चिन्ता करते हुए क्यों छटपटाते रहते हो (क्यों परेशान रहते हो)! सुप्रभ कहते हैं - यह क्यों नहीं देखते (समझते) (कि) (सारे) संसार को मृत्यु/मरण पीड़ित कर रहा है !

13. हियडा संवरु धाहडी, मुवउ कि यावइ कोइ।

अप्पउ अजरामरु करिवि, पछहो अणहो रोइ॥13॥

अर्थ - हे मन ! हाहाकार के रुदन का संवरण कर (रुदन को रोक)। क्या कोई मरा हुआ वापस आया है? अपने को अजर-अमर कर अन्यथा बाद में रोयेगा।

अणहा (अव्यय) = अन्यथा

14. किम किज्जइ 'सुप्पइ भणइ', पिय पर-यरिणि¹ धणासु।

आउसि रासि हरंतु खलु, किम पेखहि जीवासु॥14॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे प्रिय ! घर-घरिणि (स्त्री) और धन की आशा क्यों की जाती है? देख ! आयु की राशि हरण हो रही है (फिर भी) (दीर्घ) जीवन की आशा रखता है!

1. c. घरि-घरिणि।

यहाँ अर्थ में 'c' प्रति के इस शब्द को आधार माना गया है।

जीव + आस-जीवासु = जीवन की आशा

15. 'सुप्पय' पुत्त-कलत्त जिम, दव्वु वि हिंजवि लिति।

तिम जइ जम्मण-जर-मरणु, हरहिं व इट्ट न भंति॥15॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - जिस प्रकार स्त्री-पुत्र (आदि) द्रव्य (धन) को हरकर ले लेते हैं उसी प्रकार जितेन्द्रिय साधु (यति) विशेष तपस्या के द्वारा जन्म-जरा (बुढ़ापा) (और) मरण का हरण कर लेते हैं, (इसमें कोई भ्रंति नहीं है।

हिंज्जवि = हरण करके, इट्ट = तप विशेष

16. जइ सुद्धउ धणु वल्लहउ, मित्त म दित्तु विसूरि।

लइ लाहउ 'सुप्पय भणइं', जमु नेडा घर दूरि॥16॥

अर्थ - हे निर्दोष यति ! त्याग किये हुए धन (के लिए), प्रिय (के लिए), स्वामी (और) मित्र के लिए दुःखी मत हो। (अपनी यति अवस्था का) लाभ ले ले। सुप्रभ कहते हैं - मृत्यु निकट/पास है और (निज) घर (मोक्ष) दूर है।

17. 'सुप्पउ भणइ' रि जीव सुणि, वंध व करहि परित्त।
पर-सिरि पेछिवि अण्णभवे, जिम न विसूरहि मित्त॥18॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - रे जीव सुन ! कर्म-बंध को सीमित/हल्का कर जिससे अन्य/अगले भव में उत्तम लक्ष्मी (मोक्ष लक्ष्मी) को देखकर केवलमात्र खेद न करे।

18. जेण सहत्थे णिययधणु, सव्वावत्थु न दित्ति।
माय विहीणउ डिंभु जिम, ते झूरंति मरंति॥18॥

अर्थ - जिसके द्वारा अपने हाथ से अपना धन और सब वस्तुएँ नहीं दी जाती वह (दानरहित - दान के अभाव में) मातृविहीन (अनाथ) बच्चे की भाँति क्षीण होताहुआ मरता है।

19. सुक्कितु संचि म संचि धणु, जं पर हत्थहो होइ।

‘सुप्पय’ सुर-णर-विसहरहं, सुक्कितु हरण ण कोइ॥20॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - (हे नर !) सुकृत अर्थात् पुण्य का संचय कर, धन का संचय मत कर। (क्योंकि) धन दूसरे/पराये हाथ के लिए होता है (अर्थात् धन का परस्पर लेन-देन/विनिमय होता है तथा धन को कोई हरण कर सकता है) (किन्तु) सुकृत/पुण्य का हरण देवता-मनुष्य-नागेन्द्र कोई भी नहीं कर सकता।

मूल प्रति में क्रमांक 19 दोहा नहीं है।

20. धणु दिंतहं ‘सुप्पउ भणइ’, कंतु म वारि मयच्छि।

जज्जरि भंडइ नीरु जिम, आउ गलंतउ पेच्छि॥21॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे मृगाक्षी (मृगनयनी) ! अपने धन देतेहुए (दान देतेहुए) पति को मत रोक। जैसे जीर्ण बरतन में से पानी रिसता है, देख ! वैसे ही आयु भी गलती हुई/रिसती हुई/नष्ट होती हुई है।

21. दिज्जइ धणु दुत्थिय-जणहं, सुद्धकरि णिय भाउ।

चलु जीविउ 'सुप्पउ भणइ', सुण्णउ दिवसु म जाउ॥22॥

अर्थ - अपने भावों को शुद्ध करके विपत्तिग्रस्तजनों के लिए धन दिया जाना चाहिये। सुप्रभ कहते हैं - जीवन चंचल है (अतः सावधान रह कि ये) दिन निष्फल न चले जायें।

22. 'सुप्पउ भणइ' रे दइ विलसि, डहि धणु संचिउ गाहु।

लग्गइ कालि पल्लेवणइं, जं णिग्गइ तं लाहु॥23॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - अरे ! (जो) भाग्य (में है) (उसका) उपभोग कर। गृहीत एवं संचित (ग्रहण किया हुआ तथा संचय किया हुआ) धन को जला (अर्थात् समाप्त कर)। (देख) काल (मृत्यु) की अग्नि (आग) लग रही है, जो (इसमें से) निकल जाता है उसको ही लाभ (होता) है।

23. 'सुप्पय' वल्लह मरण-दिणे, जेम विरच्चइ चित्तु।

सवावत्थहं तेम जइ, गउ णिच्वाणे पहुत्तु ॥24॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - प्रिय की मृत्यु के दिन मन जिस प्रकार उदास/विरक्त होता है यदि सब अवस्थाओं में उसी तरह (विरक्त/उदास) हो जावे तो (जीव) निर्वाण-गमन में समर्थ हो जावे।

24. जरु-जुवाणु जीविउ-मरणु, धणु-दलिदु कुडुंबु।

रे हियडा 'सुप्पा भणइ', इहु संसारु विडंबु ॥25॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे मन ! यौवन-बुढ़ापा, जीवन-मरण, धन-दरिद्रता (और) कुटुम्ब (ये सब विरोधी बातें इस संसार में एकसाथ देखी जाती हैं, सच) यह संसार एक मायाजाल है।

25. हय गय रहवर पवर भडा, संपय पुत्त कलत्त।

जम तुट्टइ 'सुप्पउ भणइ', को वि ण करइ परित्त॥26॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - (जब) मृत्यु आ पड़ती है (आ धमकती है) (तब) (अपने) घोड़े, हाथी, उत्तम रथ, श्रेष्ठ योद्धा, सम्पत्ति, पुत्र-स्त्री, कोई भी (जीव की) रक्षा नहीं करते।

26. जइ दिण दह 'सुप्पउ भणइ', घरु परियणु थिरु होइ।

ता अवलंवि वि तवयरणु, रण्णि कि णिवसइ कोइ॥27॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - यदि घर-परिजन (आदि) दस दिन¹ (की लम्बी अवधि तक) स्थिर होते तो कोई तप-आचरण (तपस्या) का सहारा/आश्रय लेकर जंगल में क्यों रहता !

1. लोक में प्रसिद्ध है कि 'जीवन चार दिन का है' अर्थात् बहुत कम/सीमित अवधि का है, इसी सन्दर्भ में यहाँ चार दिन के अनुपात में 'दस दिन' का अर्थ बहुत 'लम्बी अवधि' लिया गया है।

27. ते धणवंता मुया गणि, मा लेखहि जीवंत।

जे कुप्पहि 'सुप्पउ भणइ', दाणहो पंथि न जंति॥28॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं कि वे धनवान जो दान के पथ पर नहीं जाते (उन्हें) मरे हुआओं (मृत लोगों) की श्रेणी में गिन/रख। उन्हें जीवित (जीवनयुक्त) मत कह।

28. रे हियडा 'सुप्पउ भणइ', करि उवयारु परस्स।

धणु-जोवणु बे दिवस णिरु, पुणु अवसरु हुइ कस्स॥29॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - रे मन ! दूसरों का उपकार कर। धन-यौवन निश्चित ही दो दिन (अल्प अवधि) के हैं, फिर (परोपकार के लिए) कौनसा अवसर होगा !

29. धम्म-णिमित्तं घरु-घरिणि, जसु मणु णिछउ हंति।

तसु जय सिरि 'सुप्पउ भणइ', इह रहं कहव न भंति॥30॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - जिसका मन धर्म के निमित्त/सहयोग से घर तथा घरिणि (स्त्री, पत्नी) के प्रति निश्चिन्त (विकल्परहित) हो जाता है उसको विजयश्री (लक्ष्य में सफलता) (प्राप्त) होती है, इसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है।

30. पर-पीडइ धणु संचियइ, 'सुप्पउ भणइ' कुदोसु।

बंधणु-मरणु विडंबु तह, इहु तहु अत्थि विसेसु॥31॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - दूसरों को पीड़ित/दुःखी करके धन का संचय करता है यह बहुत बड़ा दोष है। उस धनवान का यहाँ-वहाँ (हर जगह) बंधन-मरण की विडंबना और तिरस्कार ही शेष रहता है।

31 परु हम्मइं धणु संचियइ, थिरु किजइ यरवासु¹।

सकुडंवउ 'सुप्पउ भणइ', जधि² जिउ मरइ हयासु॥31.॥

अर्थ - (जिसके द्वारा) दूसरों का वध करके धन का संचय किया जाता है (और अपनी) गृहस्थी को स्थिर किया जाता है, सुप्रभ कहते हैं - (वह) जीव कुटुम्बसहित हताश-निराश होकर मरता है।

1. B-C. घरवासु 2. B. जइ

यहाँ अर्थ में B प्रति के 'घरवासु' व 'जइ' के आधार से अर्थ किया गया है।

32. अरि जिय गुण करि सज्जणहं, परिहरि एव विडंबु।

कइ दिवसहं 'सुप्पउ भणइ', तुव रोविहइ कुडुंबु॥32॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - अरे जिय ! सज्जनों जैसा आचरण कर, मायाजाल का त्याग कर/छल-कपट छोड़ ! समझ ! तेरे लिए कुटुम्ब कितने दिन रोता है !

33. जसु कारणि संचियइ धणु, पाउ करेवि गहीरु।

तं पेछहु 'सुप्पउ भणइ', दिणे-दिणे खसइ सरीरु॥33॥

अर्थ - (हे मनुष्य!) जिस देह के प्रयोजन से गंभीर/घोर पाप करके धन का संचय करता है, सुप्रभ कहते हैं - उस (देह) को देख! वह (देह) दिन-दिन क्षीण हो रही है!

34. वंदाणाण¹ 'सुप्पउ भणइ', धणु संचियइ त काइं।

अणदिंतहं 'सुप्पउ भणइ', सपुरिस इउ हिययाइं॥34॥

अर्थ - हे चन्द्रमुखी! (तेरे द्वारा यदि दान नहीं दिया जाता तो) धन क्यों संचित किया जाता है? सत्पुरुष भी (यदि) यहाँ दान न देता हुआ है तो वह (भी) विनष्ट होने वाला है।

1. B. चंदाणण, C. चंदाणाणि

यहाँ B प्रति के 'चंदाणण' (चन्द्र + आनन = चन्द्रमुखी) शब्द के आधार से अर्थ किया गया है।

35. सिसु तरणउ परिणयय, वसु इउ चिंतणहं ण जाइ।

जम रक्खस 'सुप्पउ भणइ', उप्पर ताडिहिं खाइ॥35॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे साधु! हे संयमी! (मैं) शिशु (हूँ), तरुण (हूँ), परिपक्व (हूँ) - जो इस प्रकार सोचता है (वह) नहीं जानता है कि यमरूपी (मृत्युरूपी) राक्षस (शिशु, तरुण, परिपक्व अर्थात् वृद्ध सबके) ऊपर आघात करता है।

वसु = संयमी, साधु; खाइ = पादपूरक

36. जे धनवंत न दिंतु धणु, अवरु जि पर-मगंति।

ते दुण्णिवि 'सुप्पउ भणइ', मुय लेखइ लगंति॥36॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - जो धनवान होते हुए (भी) धन का दान नहीं देते (वे) और जो दूसरों से धन माँगते हैं वे - दोनों ही (प्रकार के लोग) मरे हुए (के समान) लगते हैं।

37. दय करि जीवहं पालि वय, करि दुत्थियहं परत्त।

जिव-तिव-किव 'सुप्पउ भणइ', अवसु मरेव्वउ मित्त॥37॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे मित्र ! जैसे (बन पड़े) वैसे (या) कैसे भी जीवों पर दया कर, व्रतों का पालन कर, विपत्तिग्रस्त लोगों की रक्षा कर ! (क्योंकि) मरना निश्चित है।

38. धणु दीणहं गुण सज्जणहं, मणु धम्महं जो देइ।

तहं पुरिसहं 'सुप्पउ भणइ', विहि दा सव्वु तु करेइ॥38॥

अर्थ - (जो मनुष्य) दीनों/गरीबों को धन (का दान) देता है, सज्जनों की विनय/उपकार करता है, सदाचार/धर्म के प्रति अपना चित्त (मन) लगाता है, सुप्रभ कहते हैं - उन मनुष्यों के लिए दैव (भाग्य/नियति) निःसन्देह सब-कुछ करता है।

39. संपड़ विलसहु जिण थुणहु, करहु निरंतर धंमु।

उत्तमकुले 'सुप्पउ भणइ', दुल्लहु माणुस जंमु ॥39॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं (कि जो-जितनी) संपत्ति (प्राप्त है उस) का (उचित प्रकार) उपभोग कर, जिनेन्द्रदेव की स्तुति कर (और), निरन्तर धर्म कर (क्योंकि) उत्तम कुल में मनुष्य जन्म (पाना बहुत) दुर्लभ है।

40. जा थिर संपड़ घरे वसइ, ता दिज्जहु रे भाइ।

वर-वंसह 'सुप्पउ भणइ', कहवन निच्चल ठाइ ॥40॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - जब तक घर में धन स्थिर है तब तक दान दो। रे भाई! श्रेष्ठ/उत्तम वंशों की स्थिति भी किसी तरह स्थिर/निश्चल नहीं रहती (अर्थात् लक्ष्मी चंचल है)।

41. ता उज्जलु ता दिढ कढिणु, पुरिस-सरीरु सहेइ।

जामण 'सुप्पय' गमण मण, जर डाइणि लग्गेइ॥41॥

अर्थ - (हे मनुष्य !) जब तक दृढ़-बलवान पुरुष-शरीर (मनुष्य पर्याय) शोभता है तब तक कठिन तप कर ले। सुप्रभ कहते हैं - (यह) समझ (चिन्तन कर और मान) कि जन्म-जरा (बुढ़ापा), गमन (मरण) रूपी डायन संग लगी हुई है।

42. मण चोरहो माया णिसिहे, जिय रक्खहि अप्पाणु।

जिम होही 'सुप्पा भणइ', णिम्मल णाणु विहाणु॥42॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे जिय ! मायारूपी रात/अंधकार में मनरूपी चोर से (अपनी) आत्मा की रक्षा कर जिससे निर्मल (शुद्ध) ज्ञान का प्रभात (सवेरा, उजाला) हो।

43. जणु जज्जरु 'सुप्पउ भणइं', जइ दुक्खेहिं न होंतु।
संजम सारउ तवयरणु, कोहत्थेन विडंबु॥44॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - जो जन/मनुष्य श्रेष्ठ संयम और तप का आचरण (करते हैं) वे यति (होते) हैं, (वे) न दुःखों से जीर्ण होते हुए हैं न क्रोध से विनष्ट होते हुए हैं।

44. कवणु सयाणउं जीव तुहुं, बहुविह रूव धरंतु।
भव-पेरण 'सुप्पउ भणइं', किं न लज्जहिं णच्चंतु॥44॥

अर्थ - हे जीव ! (ये तेरा) कैसा सयानापन है कि तू अनेक प्रकार के रूप धरता हुआ भव-भ्रमण (कर रहा है)। सुप्रभ कहते हैं - (इसप्रकार भव-भव में) नाचते हुए क्या तू लजाता नहीं है (क्या तुझे लज्जा नहीं आती) ?

45. खणे-खणे हरिस-विसाय-वसु, मंडिउ मोह-नडेण।

घर पेरणु 'सुप्पउ भणइं', घोर समाणु ण भंति¹॥45॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - क्षण-क्षण में हर्ष-विषाद के अधीन/ वशीभूत होकर मोहरूपी नट के द्वारा रचित खेल-तमाशे का घर (यह संसार) (काल) क्षणभर में ही छीन लेता है।

पेरण = खेल-तमाशा

1.C. रे परिहरहिं खणेण

यहाँ अर्थ में 'C' प्रति के इस चतुर्थ चरण को आधार माना है।

46. ईसरु गव्वु म उव्वहि, सयलु परायउ जाणि।

चलु जीविउ 'सुप्पउ भणइं', पिउ वणु तुव अवसाणि॥46॥

अर्थ - हे ऐश्वर्यशाली ! अहंकार मत धारणकर। सबको पराया जान। जीवन चंचल (अस्थिर) है। सुप्रभ कहते हैं - (हे नर !) वन ही तुम्हारा अवसान-स्थल (विरामस्थल) है।

47. हियडा काइं चडपडहिं, घर-परियण संतुड्डु।

णउ जाणहि 'सुप्पउ भणइ', जइ एवहिं तुहुं मुड्डु॥47॥

अर्थ - हे मन ! घर-परिवारजन को सन्तुष्ट (करने के लिए) क्यों छटपटाता है? सुप्रभ कहते हैं - (तू) नहीं जानता कि इस प्रकार (वे) विजयी (रहते हैं और) तू ठगाया हुआ/वंचित रहता है।

मुड्डु = वंचित, जिसके माल की चोरी हो गई।

48. हियडा मंडिवि घरु -घरिणि, किं अछहिं णिचिंतु।

धणु जोवणु 'सुप्पउ भणइ', ण सहइ घडिय कयंतु॥48॥

अर्थ - हे मन ! घर और पत्नी को बना-सँवार कर (अर्थात् गृहस्थी बसाकर) निश्चिन्त कैसे बैठे हो ! सुप्रभ कहते हैं - यम/मृत्यु धन (व) यौवन को एक घड़ी भी सहन नहीं करता।

49. अरे जिय सुणि 'सुप्पउ भणइ', धण जोवणहं म मज्जि।

परिहरि घरु लइ दिक्खडी, तणु णिव्वाणहं सज्जि ॥49॥

अर्थ - हे जिय ! सुन, सुप्रभ कहते हैं - धन-यौवन का अभिमान मत कर। घर को त्यागकर दीक्षा ले ले (धारण कर ले) (और) मुक्ति/निर्वाण का आलिगन कर सिद्धशिला (पहुँच)।

तणु = सिद्धशिला; सज्जि = आलिगन कर।

50. जीव म धम्मो हाणि करिय, सपरियण¹-कज्जेण।

किं न पेक्खहिं² 'सुप्पउ भणइ', जणु खज्जंतु जमेण ॥50॥

अर्थ - हे जीव ! घर और परिजनों के कारण धर्म की हानि मत कर। सुप्रभ कहते हैं - (सोच!) जब मनुष्य (जीव) मृत्यु के द्वारा खाया जाता है तब कौन (उसकी) रक्षा करता है?

1.C. घर-परियण, 2.C. किम रखेहि

यहाँ अर्थ में 'C' प्रति के शब्दों को आधार माना गया है।

51. जसु पोसण-कारणेण णरु, कज्जाकज्जु करेइ।

‘सुप्पइ’ सो जि कुडंवडउ, चप्पेवि णरयहो णेइ॥51॥

अर्थ - मनुष्य जिस कुटुम्ब के पालन-पोषण के लिए/कारण कार्य-अकार्य (करणीय-अकरणीय) करता है, सुप्रभ कहते हैं - वह (कुटुम्ब) ही उसे दबाकर नरक को ले जाता है।

52. रे मूढा ‘सुप्पउ भणइ’, धणु दितहं थिरु होइ।

जइ कल संचइ ससि गयणे, पुणु खिज्जंतउ जोइ॥52॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - रे मूढ ! दिया हुआ धन ही स्थिर होता है। (देख) गगन में चन्द्रमा कलाओं का संचय करता है, (पर) फिर (उसकी) ज्योति क्षीण होती जाती है। (अर्थात् धन दान द्वारा स्थिर होता है, संचय से नहीं)।

53. घर सुक्खइ 'सुप्पउ भणइ', जिय माणिज्जहिं तेम।

इंदिय-चोरहं धम्मधणु, तुव न लहिज्जइ जेम॥53॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे जिय ! जिस प्रकार इन्द्रियरूपी चोरों के द्वारा तुम्हारा धर्मरूपी धन नहीं प्राप्त किया जाता (नहीं चुराया जाता) उसी प्रकार यह माना जाय कि घर से सुख (प्राप्त नहीं किया जा सकता)।

54. णिय घर सुक्खइ पंच दिण, अणु दिणु दुक्खहं लक्खु।

मुणि अप्पा 'सुप्पउ भणइ', जेण विढप्पइ मुक्खु'॥54॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - (हे जिय !) सुख पाँच दिन (अल्प अवधि) का होता है और दुःख प्रतिदिन लाखों होते हैं। (इसलिए हे जिय!) आत्मा को समझ जिससे अपना (निज का) घर 'मोक्ष' उपलब्ध होवे।

1.c. मोक्खु

यहाँ अर्थ में 'C' प्रति के इस शब्द को आधार माना है।

55. 'सुप्पउ भणइ' न वीसरहु, वा दुलेहि णिव्वाणु।

जा मण मणु मारिवि सु णिउं, अप्पाणे अप्पाणु ॥55॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे मनुष्य ! तब तक उस दुर्लभ निर्वाण को मत भूल जब तक मन को मारकर आत्मा के द्वारा आत्मा को भली प्रकार देखने के लिए (जानने के लिए) (समर्थ न हो जाये)।

णिउं = देखने के लिए

56. अह हरि पुज्जहु अहव हरु, अह जिणु अह बंभाणु।

'सुप्पउ भणइ' रि जोयहो, सव्वहं भाउ पवाणु ॥56॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे जोगी ! तू हरि को पूज या शंकर को, या जिनेन्द्र को, या ब्रह्मा को ! सर्वत्र/सबमें भाव ही प्रमाण हैं/निर्णायक हैं।

1.C. पमाणु

यहाँ अर्थ में 'C' प्रति के इस शब्द को आधार माना है।

57. रोवंतह 'सुप्पउ भणइं', अरि जिय दुक्खु कि जाइ।

जा मण इंदिय-गुणरहिउ, भाउ णिरामइ ठाइ॥57॥

अर्थ - रोते हुए लोगों के लिए सुप्रभ कहते हैं - अरे जिय ! (इस प्रकार रोकर) दुःख क्यों उत्पन्न किया जाता है ! (देख !) जो मनुष्य इन्द्रिय-बंधन से रहित होता है वह निर्मल/निर्दोष स्व-भाव में स्थिर हो जाता है।

58. रोवंतहं 'सुप्पउ भणइं', सो वि णडइ अप्पाणु।

झाणब्भंतरि पुरइ, तहिं समरसु तं जिय णाणु॥58॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - (जो) रोता हुआ है वह अपने को व्याकुल करता है (और) (जो) ध्यान के भीतर डूब जाता है (मग्न हो जाता है) हे जिय ! वह ज्ञान से/चैतन्य से समरस (एकमेक/तादात्म्य) हो जाता है।

59. जसु मणु जीवइ विसय-वसु, सो णरु मुवउ भणिज्ज।

जसु पुणु 'सुप्पइ' मणु मरइ, सो णरु अमरु भणिज्ज॥59॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - जिसका मन विषय-भोगों के अधीन (होकर) जीता है वह मनुष्य मरा हुआ कहा जाता है और जिसका मन मर जाता है (विषय-भोगों से विरक्त हो जाता है) वह (मनुष्य) अमर कहा जाता है।

मणु मरइ = मन मर जाना (यह एक मुहावरा है)

60. जसु लग्गउ 'सुप्पउ भणइ', पिय यर-घरिणि पि साउ।

सो किं कहिउ समायरइ, मित्त णिरंजण भाउ॥60॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - हे मित्र ! जो (जिसका मन) प्रिय में, घर-घरिणि (पत्नी) (में), और स्वाद (अर्थात् रसना इन्द्रिय) (में) लगा हुआ है/आसक्त है, कहो, क्या वह निरंजन भाव का आचरण करता है (कर सकता है) !

61. जेहि जि णयणेहिं वल्लहउ, दीसइ रज्जु करंतु।

पुणु तेहि जि 'सुप्पउ भणइ', सइं दीसइं डइंतु ॥62॥

अर्थ - जिन नयनों से अपने प्रिय को राज करता हुआ देखा जाता है, सुप्रभ कहते हैं - फिर अपने उन्हीं (नयनों) के द्वारा (अपने उसी प्रिय को) जलता हुआ देखा जाता है (कैसी विडम्बना है)!

62. जेहि ण णिय धणु विलसियउ, णउ सग्गंतहं¹ दिण्णु।

अप्पउ सहि 'सुप्पउ भणइ', ते अप्पाणउ छिण्णु ॥62॥

अर्थ - जिनके द्वारा न अपने लिए धन का उपभोग किया जाता है, न माँगते हुआओं के लिए (दान) दिया जाता है, सुप्रभ कहते हैं - वे (जन) अपने साथ अपनों को भी क्षीण/नष्ट करते हैं।

1.C. ण वि मग्गंतहं

यहाँ अर्थ में 'C' प्रति के इस शब्द को आधार माना गया है।

63. जिम चिंतिज्जइ घरु-घरिणि, तिम जइ पर-उवयारु।
तो णिछइ 'सुप्पउ भणइ', खणि तुट्टइ संसारु ॥63 ॥

अर्थ - जिस प्रकार घर और घरिणि की चिंता/चिन्तन विचार किया जाता है यदि उसी प्रकार दूसरों के हित की/पर-उपकार की (चिंता-चिन्तन-विचार किया जाये) तो सुप्रभ कहते हैं - निश्चित ही/अवश्य ही, शीघ्र ही/क्षणभर में ही संसार (का बंधन) टूट जाय।

64. णिच्चल संपइ कस्स घरे, जइ केण वि कहि दिट्ठ।
करउ णिवि 'सुप्पउ भणइ', तो वोलंतु व सिट्ठ ॥64 ॥

अर्थ - कहो ! (इस जगत में) कहीं, किसी के द्वारा किसी के घर में स्थिर-अचंचल संपत्ति देखी गई है ! सुप्रभ कहते हैं - (विशेष) तप करो जिससे अति उत्तम कहलाओ/कहला सको।

65. महिहिं भमंतहं तेण पर, जे पुर घर दीसंति।

पर भाउ व 'सुप्पउ भणइ', मुवा न कह व मिलंति॥64.॥

अर्थ - इस पृथ्वी पर भ्रमण करते हुआओं के द्वारा जो घर-नगर (आदि) देखे जाते हैं वे सब पर-पदार्थ हैं। सुप्रभ कहते हैं - (उनसे) किसी भी प्रकार आनन्द/खुशी नहीं मिलती।

मुआ = हर्ष, आनन्द

66. सोय रुवइ 'सुप्पउ भणइ', जसु कर दाणु विहंतु।

जो पुणु संचइ धणु जि धणु, जो घर संढ न भंति॥65॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - जिसका हाथ दानरहित है वह रोता है (अर्थात् दुःखी रहता है) और जो धन ही धन का संचय करता है (उसका) घर अभव्य (अकर्मण्य) का है, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं।

संढ → षण्ड = सृजन कर सकने में असमर्थ, अभव्य, अकर्मण्य।

67. जेतिउ तुडि चडि धावइ दमहो, तेत्तिउ जइ सहसा गुण-धम्महो।

अरि जिय 'सुप्पउ भणइ', असारहो कं दुप्पाडु होइ संसारहो॥59॥

अर्थ - जितने उतावलेपन पर सवार होकर (चढ़कर) (शीघ्रता से) कामनाओं/इन्द्रिय-सुखों के लिए भाग-दौड़ करते हो यदि उतना उतावलापन/शीघ्रता धर्म एवं गुणों के लिए करो तो सुप्रभ कहते हैं - इस असार संसार का दृढ़ता से उन्मूलन हो जाये।

1.C. वम्महु = कामना, इन्द्रिय-सुख की इच्छा

यहाँ अर्थ में 'C' प्रति के इस शब्द को आधार माना है।

68. वल्लहु अवगुण दावइ जेतिउ, 'सुप्पउ' लाहु गणिज्जइ तेत्तिउ।

जिम जिम खउ उपज्जइ णेहहो, तिम-तिम मणु मुचइ सं देहहो॥67॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - प्रिय (देह) के जितने अवगुण दिखाये जाते हैं उतना ही लाभ गिना (समझा) जाता है। जैसे-जैसे (देह से) नेह का (प्रेम का) क्षय/हास उपजता जाता है वैसे-वैसे मन देह की सुन्दरता से मुक्त होता जाता है।

सं = सुन्दरता

69. हियडा केतिउ दस-दिसु धावहि, दुक्करु रे हिय-इच्छिउ पावहि।

‘सुप्पइ’ तुडि चडि लब्भइ तेत्तिउ, अन्न भवंतरि दिणउ जेतिउ॥68॥

अर्थ - रे मन ! (तू) दशों दिशाओं में कितनी ही भाग-दौड़ कर (पर) मनवांछित को पाना बहुत कठिन है/दुष्कर है। सुप्रभ कहते हैं - कम या अधिक, दूसरे भव में उतना ही पाता है जितना दिया हुआ है (अर्थात् जितना दान दिया है उतना ही मिलेगा)।

तुडि = कम, चडि = ऊँचा (अधिक)

70. रे हियडा ‘सुप्पउ भणइ’, किण फेट्टहि रोवंतु।

पिउ पिछेहि मसाण डइ, एक्कल्लउ डज्झंतु॥69॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - रे मन ! (प्रिय के वियोग में) पछाड़ खाकर क्यों रोता है? देख! (तेरा) प्रिय (तो) श्मशान में अकेला जलता हुआ है/जल रहा है !

71. उत्तम पुरिसहं कोडि सय, दिणे-दिणे गिलइ असारु।

‘सुप्पय’ खाइ ण धाइ पर, तुहि रक्खसु संसारु ॥70॥

अर्थ - उत्तम पुरुषों/महान आत्माओं के सहस्रों-करोड़ों (धन होता है, पर वे उसे) निस्सार (समझकर) दिन-दिन (उसके प्रति) उदासीन होते जाते हैं। सुप्रभ कहते हैं - (रे मन!) तू खाता (रहता) है पर तृप्त नहीं होता (अतः तू अपने) संसार को (भव-भ्रमण को) सुरक्षित करता है (अर्थात् आगे के लिए बढ़ा लेता है)।

72. विलवं लउ ‘सुप्पउ भणइ’, घरे महि पडि वड्ढु।

पेक्खंतहं सुहि सज्जणहं, को कालें णहु खड्ढु ॥71॥

अर्थ - (हे मनुष्य!) (जोर-जोर से) विलाप करके/रोकर (यदि अपने प्रिय मृत व्यक्ति को) घर में रोक सकता है (तो) (रोक ले)। सुप्रभ कहते हैं - देखे जाते हुए सज्जन और विद्वान (आदि) क्या काल के द्वारा खाये हुए नहीं हैं ?

73. 'सुप्पइ भणइ' रे धम्मियहो, पिछहु अवरु अणक्खु।

जीव हणंतहं णरय गय, मणु मारंतहं मोक्खु॥72॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - रे धार्मिकजनो ! दूसरी/अन्य अनोखी बात देखो - जीव को मारनेवाला नरक को गया और मन को मारनेवाला मोक्ष !

74. जइ दितहं 'सुप्पउ भणइ', संपय जाउ त जाउ।

छुडु णिम्मलु धम्मेण सहु, घर मंडेवि जसु ठाइ॥73॥

अर्थ - सुप्रभ कहते हैं - यदि दान देते हुए संपत्ति जाती है तो जाये (खत्म होती है तो होवे)। (दान देनेवाले का) घर शीघ्र ही यश से सुशोभित होकर निर्मल धर्म के साथ स्थिर/अवस्थित होता है।

75. इहु घरु-घरिणि एहु सुहि, पहु' बधउ गिह रंगि।
 76. णच्चावइ बहुभांगे, मोह-गह-गहिउ सु णच्चइ।
 णिय हिए थिउ किंपि तत्थ, अप्पा णउ वंचइ॥
 णच्चावइ बहु भंगि, भंगि कालगी थियत्तहँ।
 जिणि हिंडइ संसारु, सुखु नहु लहइ खणु वि इह॥75॥

अर्थ - मोह जीवों को अनेक प्रकार नचाता है और आसक्ति से आक्रान्त जीव/आत्मा नाचता है। (यदि जीव) अपने हृदय में/आत्मा में किंचित् भी स्थिर होवे तो अपने को ठगाये नहीं।

(2) (जिस प्रकार मोह जीव को) विविध प्रकार नचाता है उसी प्रकार काल की अग्नि (मृत्युरूपी अग्नि) है जो स्थिर का भी विनाश कर देती है। जो संसार में भ्रमण करता है (वह) यहाँ क्षणभर भी सुख नहीं पाता।

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जयपुर-4



जोणे हिंडइ संसारु, सुखु नहु लहइ खणु वि इह॥75॥

अर्थ - मोह जीवों को अनेक प्रकार नचाता है और आसक्ति से आक्रान्त जीव/आत्मा नाचता है। (यदि जीव) अपने हृदय में/आत्मा में किंचित् भी स्थिर होवे तो अपने को ठगाये नहीं।

(2) (जिस प्रकार मोह जीव को) विविध प्रकार नचाता है उसी प्रकार काल की अग्नि (मृत्युरूपी अग्नि) है जो स्थिर का भी विनाश कर देती है। जो संसार में भ्रमण करता है (वह) यहाँ क्षणभर भी सुख नहीं पाता।

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जयपुर-4



